Chapter सत्ताईस

प्रकृति का ज्ञान

श्रीभगवानुवाच
प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषो नाज्यते प्राकृतैर्गुणैः ।
अविकारादकर्तृत्वान्निर्गुणत्वाज्जलार्कवत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; प्रकृति-स्थः—भौतिक शरीर में वास करते; अपि—यद्यपि; पुरुषः—जीवात्मा; न—नहीं; अज्यते—प्रभावित होता है; प्राकृतैः—प्रकृति के; गुणैः—गुणों से; अविकारात्—बिना परिवर्तन आये, निर्विकार; अकर्तृत्वात्—कर्तृत्व से स्वतन्त्र; निर्गुणत्वात्—प्रकृति के गुणों से अप्रभावित रहने से; जल—जल पर; अर्कवत्—सूर्य के समान।

भगवान् कपिल ने आगे कहा : जिस प्रकार सूर्य जल पर पड़ने वाले प्रतिबिम्ब से भिन्न रहा आता है उसी तरह जीवात्मा शरीर में स्थित होकर भी प्रकृति के गुणों से अप्रभावित रहता है, क्योंकि वह अपरिवर्तित रहता है और किसी प्रकार का इन्द्रियतुष्टि का कर्म नहीं करता।

तात्पर्य : पिछले अध्याय में भगवान् कपिल ने यह निष्कर्ष निकाला कि मात्र भक्ति प्रारम्भ करके मनुष्य विरक्ति प्राप्त कर सकता है तथा *आत्मतत्त्व* को समझने के लिए दिव्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है। यहाँ उसी सिद्धान्त की पुष्टि की गई है। जो मनुष्य प्रकृति के गुणों से विरक्त रहता है, वह जल से प्रतिबिम्बित सूर्य के समान है। जब जल पर सूर्य प्रतिबम्बित होता है, तो जल की गति, या उसकी शीतलता या अस्थिरता का सूर्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार *वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः* (*भागवत* १.२.७)—जब मनुष्य भक्ति कार्यों या भक्तियोग में पूरी तरह लग जाता है, तो वह उसी तरह हो जाता है जैसे जल पर प्रतिबिम्बित सूर्य। यद्यपि भक्त भौतिक जगत में रहता प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में वह दिव्य जगत में होता है। जिस प्रकार सूर्य का प्रतिबिम्ब जल पर प्रतीत होता है, किन्तु सूर्य जल से लाखों मील दूरी पर होता है उसी प्रकार भक्तियोग में लगा मनुष्य निर्गुण होता है अर्थात् प्रकृति के गुणों से अप्रभावित रहता है।

अविकार का अर्थ है 'परिवर्तनरहित'। *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है कि प्रत्येक जीव

परमात्मा का अंश है, अत: उसकी शाश्वत स्थिति यह है कि वह परमेश्वर के संग जुड़े या उनकी शक्ति का दास बने। यही उसकी अपरिवर्तनीय (अविकारी) स्थिति है। ज्योंही वह अपनी शक्ति तथा कार्यों को इन्द्रियतृप्ति में लगाता है कि उसकी स्थिति बदल जाती है और यह बदली हुई स्थिति *विकार* कहलाती है। इसी प्रकार जब वह गुरु के निर्देशन में भक्ति करता है, तो उसकी स्थिति बदलती नहीं, क्योंकि यह तो उसका प्राकृतिक कर्तव्य है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में उल्लेख है, मुक्ति का अर्थ है मूल स्थिति में पुन:स्थापना। मूल स्थिति तो भगवान् की भक्ति करना (*भक्तियोगेन, भक्त्या*) है। जब मनुष्य भौतिक आकर्षण से विरक्त हो जाता है और भक्ति में पूरी तरह लग जाता है, तो यह अपरिवर्तनशीलता है। *अकर्तृत्वात्* का अर्थ है इन्द्रियतृप्ति के लिए कुछ भी न करना। जब मनुष्य अपने बूते पर कोई काम करता है, तो उसमें स्वामित्व की भावना रहती है और इसीलिए प्रतिक्रिया होती है, किन्तु जब वह कृष्ण के लिए सब कुछ करता है, तो कर्मों के ऊपर उसका कोई कर्तृत्व नहीं रहता। अपरिवर्तनशील तथा कर्म के कर्तृत्व का अधिकार न माँगने से वह तुरन्त दिव्य स्थिति को प्राप्त होता है जहाँ उसे प्रकृति के गुण छू तक नहीं पाते, ठीक उसी प्रकार जिस तरह सूर्य का प्रतिबिम्ब जल द्वारा अप्रभावित रहता है।

स एष यर्हि प्रकृतेर्गुणेष्वभिविषज्जते ।
अहङ्क्रियाविमूढात्मा कर्तास्मीत्यभिमन्यते ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सः—वही जीवात्मा; एषः—यह; यर्हि—जब; प्रकृतेः—प्रकृति के; गुणेषु—गुणों में; अभिविषज्जते—लीन रहता है; अहङ्क्रिया—अहंकार से; विमूढ—मोहग्रस्त; आत्मा—जीवात्मा; कर्ता—करने वाला; अस्मि—मैं हूँ; इति—इस प्रकार; अभिमन्यते—सोचता है।

जब आत्मा प्रकृति के जादू तथा अहंकार के वशीभूत होता है और शरीर को स्व (आत्मा) मान लेता है, तो वह भौतिक कार्यकलापों में लीन रहने लगता है और अहंकारवश सोचता है कि मैं ही प्रत्येक वस्तु का कर्ता हूँ।

तात्पर्य : वास्तविकता तो यह है कि बद्धजीव को प्रकृति के गुणों के वशीभूत होकर कार्य करना पड़ता है। जीवात्मा को तनिक भी स्वाधीनता नहीं है। जब वह भगवान् के निर्देशन में

रहता है, तो वह मुक्त होता है, किन्तु जब वह इस भाव से कि वह इन्द्रियों की तुष्टि कर रहा है, अपने आपको इन्द्रियतुष्टि के कार्यों में लगा देता है, तो वास्तव में वह प्रकृति के जादू में बँध जाता है। *भगवद्गीता* में कहा गया है *प्रकृतिः क्रियमाणानि*—मनुष्य प्रकृति के उन गुणों के अनुसार कार्य करता है, जो उसने अर्जित किए हैं। *गुण* से प्रकृति के गुण सूचित होते हैं। वह प्रकृति के गुणों के अधीन रहता है, किन्तु भ्रमवश अपने को कर्ता समझता है। यह कर्तृत्व की भ्रान्त धारणा भगवान् या उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि के निर्देशानुसार भक्ति में लगने से ही दूर हो पाती है। *भगवद्गीता* में अर्जुन युद्ध में अपने पितामह तथा गुरु के मरने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले रहा था, किन्तु जब उसने कृष्ण के निर्देशानुसार कार्य किया, तो वह कार्य के कर्तृत्व से मुक्त हो गया। वह लड़ा, किन्तु लड़ने के फल से मुक्त कर दिया गया, यद्यपि प्रारम्भ में जब वह अहिसंक था, लड़ने को तैयार न था, तो सारा दायित्व उसी पर था। यही मुक्ति तथा बद्धता के बीच अन्तर है। बद्धजीव भले ही उत्तम और सतोगुणी हो, किन्तु तो भी वह प्रकृति के सम्मोह के वशीभूत रहता है। फिर भी भक्त परमेश्वर के निर्देशन में कार्य करता है। इस तरह उसके कार्य सामान्य व्यक्ति को भले ही अति उच्च कोटि के न प्रतीत हों, किन्तु भक्त पर कोई उत्तरदायित्व नहीं रहता।

तेन संसारपदवीमवशोऽभ्येत्यनिर्वृतः ।
प्रासङ्गिकैः कर्मदोषैः सदसन्मिश्रयोनिषु ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तेन—उससे; संसार—बारम्बार जन्म-मृत्यु का; पदवीम्—मार्ग, पथ; अवशः—निरुपाय होकर; अभ्येति—भोगता है; अनिर्वृतः—असंतुष्ट; प्रासङ्गिकैः—प्रकृति की संगति से उत्पन्न; कर्म-दोषैः—गलत कर्मों से; सत्—अच्छा; असत्—बुरा; मिश्र—मिला-जुला; योनिषु—विविध योनियों में।

अतः बद्धजीव भौतिक प्रकृति के गुणों के साथ अपनी संगति के कारण उच्चतर तथा निम्नतर विभिन्न योनियों में देहान्तर करता रहता है। जब तक वह भौतिक कार्यों से मुक्त नहीं हो लेता उसे अपने दोषपूर्ण कार्य के फलस्वरूप यह स्थिति स्वीकार करते रहनी पड़ती है।

तात्पर्य : यहाँ पर *कर्मदोषैः* का अर्थ है "त्रुटिपूर्ण कर्मों से"। यह इस संसार में अच्छा या

बुरा जो भी कर्म किया जाता है उनको निर्देश करता है—वे भौतिक संसर्ग के कारण कल्मषयुक्त तथा त्रुटिपूर्ण होते हैं। मूर्ख बद्धजीव यह सोच सकता है कि वह लोक-कल्याण के लिए अस्पताल खोलकर या शिक्षा देने के लिए शैक्षिण संस्थान खोलकर दान दे रहा है, किन्तु वह यह नहीं जानता कि ऐसे सारे कार्य दोषपूर्ण होते हैं, क्योंकि इससे उसे एक शरीर से दूसरे में देहान्तरण से छूट नहीं मिल सकती। यहाँ स्पष्ट उल्लेख है—*सद्-असत्-मिश्र-योनिषु*—जिसका अर्थ है कि इस संसार में अपने पुण्य कर्मों के लिए मनुष्य उच्चवंश में या उच्च लोकों में देवताओं के मध्य जन्म ले सकता है। किन्तु उसका यह कार्य भी दोषपूर्ण है, क्योंकि इससे मुक्ति नहीं मिलती। उत्तम स्थान या उच्च कुल में जन्म लेने का अर्थ यह नहीं होता कि इससे सांसारिक क्लेशों, अर्थात् जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के कष्टों से बचा जा सकता है। बद्धजीव प्रकृति के सम्मोह के वशीभूत होकर यह नहीं समझ पाता कि इन्द्रियतृप्ति के लिए जो भी कार्य किया जाता है, वह दोषपूर्ण होता है। केवल भगवान् की भक्ति के लिए किये जाने वाले कार्य उसे दोषपूर्ण कर्म के फल से छुटकारा दिला सकते हैं। चूँकि वह ऐसे दोषपूर्ण कार्य बन्द नहीं करता इसलिए उसे शरीर बदलने पड़ते हैं, कभी उच्च तो कभी निम्न। यह *संसार-पदवीम्* कहलाता है, जिसका अर्थ है ‘यह जगत जिससे छुटकारा नहीं है’। जो मनुष्य मुक्ति की कामना करता है उसे अपने कर्म भक्ति के लिए करने होंगे। इसका कोई विकल्प नहीं है।

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥ ४॥

शब्दार्थ

अर्थे—असली कारण; हि—निश्चय ही; अविद्यमाने—उपस्थित न होने पर; अपि—यद्यपि; संसृतिः—सांसारिक दशा; न—नहीं; निवर्तते—रुकती है; ध्यायतः—ध्यान करने से; विषयान्—भोग; अस्य—जीवात्मा का; स्वप्ने—स्वप्न में; अनर्थ—हानियों का; आगमः—आना; यथा—जिस तरह।

वास्तव में जीवात्मा इस संसार से परे है, किन्तु प्रकृति पर अधिकार जताने की अपनी मनोवृत्ति के कारण उसके संसार-चक्र की स्थिति कभी रुकती नहीं और वह सभी प्रकार की अलाभकर स्थितियों से प्रभावित होता है, जिस प्रकार कि स्वप्न में होता

है।

तात्पर्य : स्वप्न का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है। स्वप्न में हम विभिन्न मानसिक दशाओं के कारण हानिकारक तथा लाभकर परिस्थितियों में रहते हैं। इसी प्रकार आत्मा को इस प्रकृति से कुछ लेना देना नहीं, किन्तु अधिकार जताने की अपनी मनोवृत्ति के कारण उसे बद्ध होना पड़ता है।

बद्ध दशा को यहाँ पर *ध्यायतो विषयानस्य* कहा गया है। *विषय* का अर्थ है भोग्य वस्तु। जब तक मनुष्य यह सोचता रहता है कि वह भौतिक लाभ उठा सकता है, तब तक वह बद्ध जीवन में बना ही रहता है, किन्तु ज्योंही उसे चेत होता है, तो उसमें ज्ञान उत्पन्न होता है कि वह भोक्ता नहीं है, क्योंकि एकमात्र भोक्ता श्रीभगवान् हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (५.२९) में पुष्टि की गई है, वह (ईश्वर) समस्त यज्ञों तथा तपस्याओं के फल का लाभ उठाने वाला (*भोक्तारं यज्ञ-तपसाम्*) और तीनों लोकों का स्वामी है (*सर्वलोकमहेश्वरम्*)। वही समस्त जीवात्माओं का असली सखा है। किन्तु हम भगवान् पर समस्त स्वामित्व, भोग तथा समस्त जीवों के सखा होने का भार न छोड़कर अपने को ही स्वामी, भोक्ता तथा सखा मानते हैं। हम यह सोचकर कल्याणकारी कार्य करते हैं कि हम मानव समाज के सखा हैं। कोई अपने को भले ही उत्तम राष्ट्रीय कार्यकर्ता, जनता तथा देश का श्रेष्ठतम मित्र कह ले, किन्तु वह किसी का श्रेष्ठतम मित्र नहीं हो सकता। एकमात्र मित्र तो श्रीकृष्ण हैं। हमें चाहिए कि हम बद्धजीव की चेतना को इस स्तर तक उठा दें कि वह यह समझने लगे कि कृष्ण उसका वास्तविक मित्र है। यदि वह कृष्ण से मित्रता स्थापित करता है, तो उसे कोई कभी धोखा नहीं दे सकता और उसे यह सारी वांछित सहायता मिलती रहेगी। इस बद्धजीव में इस चेतना को उत्पन्न करना सबसे बड़ी सेवा है, अपने को अन्य जीवात्मा का महान् मित्र बताना कोई सेवा नहीं है। मित्रता की शक्ति सीमित है। यद्यपि मनुष्य अपने को मित्र घोषित करता है, किन्तु वह अनन्त काल तक मित्र नहीं बना रह सकता। जीवात्माएँ अनन्त हैं और हमारे साधन सीमित हैं, अत: हम सामान्य लोगों को लाभ नहीं पहुँचा सकते। सामान्य लोगों की श्रेष्ठतम सेवा यही है कि हम

उनमें कृष्णभक्ति उत्पन्न करें जिससे वे जान सकें कि कृष्ण ही परम भोक्ता, परम कर्ता तथा परम मित्र हैं। तब प्रकृति के ऊपर अधिकार करने का मोहक सपना भंग हो जाएगा।

अत एव शनैश्चित्तं प्रसक्तमसतां पथि ।
भक्तियोगेन तीव्रेण विरक्त्या च नयेद्वशम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

अत: एव—अत:, इसलिए; **शनै:**—धीरे-धीरे; **चित्तम्**—मन, चेतना को; **प्रसक्तम्**—आसक्त; **असताम्**—भौतिक भोगों के; **पथि**—पथ पर; **भक्ति-योगेन**—भक्ति से; **तीव्रेण**—अत्यन्त गम्भीर; **विरक्त्या**—विरक्ति से, बिना आसक्ति के; **च**—तथा; **नयेत्**—वह लावे; **वशम्**—वश में।

प्रत्येक बद्धजीव का कर्तव्य है कि वह भौतिक सुखोपभोग के प्रति आसक्त अपनी दूषित चेतना को विरक्तिपूर्वक अत्यन्त गम्भीर भक्ति में लगावे। इस प्रकार उसका मन तथा चेतना पूरी तरह वश में हो जाएँगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में मुक्ति की विधि अति सुन्दर ढंग से समझाई गई है। प्रकृति द्वारा बद्ध किये जाने का कारण मनुष्य का यह सोचना है कि वह स्वयं भोक्ता, कर्ता या समस्त जीवों का मित्र है। यह मिथ्या विचार इन्द्रियभोग के चिन्तन का परिणाम है। जब मनुष्य यह सोचता है कि वह अपने देश, समाज या कि मानवता का सर्वोत्तम मित्र है और तब वह विविध राष्ट्रीयतृप्ति, परोपकारी एवं परमार्थवादी कार्यों में अपने को लगाता है, तो यह सब मात्र इन्द्रियतृप्ति के प्रति अधिक एकाग्रता रहती है। ऐसा तथाकथित राष्ट्रीय नेता या मानवतावादी सबकी सेवा नहीं करता, वह मात्र अपनी इन्द्रियों की सेवा करता है। यह तथ्य है। किन्तु बद्धजीव इसे नहीं समझ पाता, क्योंकि वह प्रकृति के मायाजाल से मोहग्रस्त रहता है। अत: इस श्लोक में संस्तुति की गई है कि मनुष्य भगवान् की सेवा अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक करे। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य अपने को कर्ता, हितैषी, मित्र या भोक्ता न समझे। उसे सदैव इसका भान होना चाहिए कि वास्तविक भोक्ता तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण हैं। यही भक्तियोग का मूल सिद्धान्त है। मनुष्य को इन तीन सिद्धान्तों के प्रति पूर्ण रूप से आश्वस्त हो जाना चाहिए; कृष्ण स्वामी हैं, कृष्ण भोक्ता हैं और कृष्ण ही मित्र हैं। उसे इन सिद्धान्तों को न केवल स्वयं समझना चाहिए, अपितु उसे चाहिए कि अन्यों को विश्वास दिलावे और कृष्णभक्ति

का प्रसार करे।

जैसे ही मनुष्य अपने को भगवान् की ऐसी गम्भीर भक्ति में लगा लेता है, प्रकृति के ऊपर झूठे ही स्वामित्व दिखाने की रुचि स्वाभाविक रूप से दूर हो जाती है। यह अनासक्ति वैराग्य कहलाती है। भौतिक स्वामित्व में लीन रहने के बजाय जब मनुष्य कृष्णभक्ति में लग जाता है, तो यही चेतना (चित्त) का नियंत्रण है। योग विधि में इन्द्रियों का निरोध आवश्यक है। *योग इन्द्रिय-संयमः*। चूँकि इन्द्रियाँ सदैव सक्रिय रहती हैं, अतः उनकी सक्रियता को भगवान् की सेवा में लगाना चाहिए, क्योंकि मनुष्य उनकी सक्रियता को रोक नहीं सकता। यदि किसी कृत्रिम ढंग से कोई उनकी सक्रियता को रोकना चाहे तो प्रयास असफल रहता है। यहाँ तक कि परम योगी विश्वामित्र, जो अपनी इन्द्रियों को योग-विधि से वश में करने का प्रयत्न कर रहे थे, मेनका के सौन्दर्य के शिकार हो गये। ऐसे अनेक उदाहरण हैं। जब तक मनुष्य का मन तथा चेतना भक्ति में पूरी तरह संलग्न नहीं होते तब तक मन के इन्द्रियतृप्ति की कामनाओं में लगे रहने की सम्भावना बनी रहती है।

इस श्लोक में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात इंगित की गई है। यह है—*प्रसक्तम् असतां पथि*—मन सदैव *असत्* अर्थात् क्षणिक संसार में अनुरक्त रहता है। चूँकि हम अनादि काल से प्रकृति के संसर्ग में रहे हैं, अतः हम इस क्षणिक प्रकृति के प्रति अनुरक्त रहने के आदी हो चुके हैं। मन को परमेश्वर के चरणकमलों में स्थिर करना होगा। *स वै मनः कृष्ण पदारविन्दयोः*—मनुष्य को कृष्ण के चरणकमलों में स्थिर करना होता है। तभी सब कुछ ठीक हो सकेगा। इस तरह इस श्लोक में भक्तियोग की गम्भीरता पर बल दिया गया है।

यमादिभिर्योगपथैरभ्यसञ्श्रद्धयान्वितः ।
मयि भावेन सत्येन मत्कथाश्रवणेन च ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यम-आदिभिः—यम इत्यादि; योग-पथैः—योगपद्धति के द्वारा; अभ्यसन्—अभ्यास करते हुए; श्रद्धया अन्वितः—परम श्रद्धा समेत; मयि—मुझमें; भावेन—भक्ति से; सत्येन—अमिश्रित; मत्-कथा—मेरे विषय की कथाएँ; श्रवणेन—सुनने से; च—तथा।

मनुष्य को योग पद्धति की संयम आदि विधियों के अभ्यास द्वारा श्रद्धालु बनना

चाहिए और मेरे कीर्तन तथा श्रवण द्वारा अपने आपको शुद्ध भक्ति के पद तक ऊपर उठाना चाहिए।

तात्पर्य : योगाभ्यास की आठ अवस्थाएँ हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। यम तथा नियम का अर्थ है कठिन नियमों का पालन करते हुए संयम का अभ्यास करना। आसन से बैठने की विधियों का द्योतन होता है। इनके द्वारा श्रद्धा (निष्ठा) पद तक पहुँचा जा सकता है। शारीरिक कसरत के द्वारा योगाभ्यास अन्तिम लक्ष्य नहीं है; असली उद्देश्य तो मन को केन्द्रित करना तथा अपने आपको श्रद्धापूर्ण भक्ति के पद पर पहुँचने के लिए प्रशिक्षित करना है।

योग या अन्य किसी आध्यात्मिक क्रिया के अभ्यास में *भावेन* या *भाव* एक महत्त्वपूर्ण कारक है। *भगवद्गीता* (१०.८) में *भाव* की व्याख्या इस प्रकार की गई है—*बुधा भावसमन्विताः*—मनुष्य को कृष्णप्रेम के विचार में लीन रहना चाहिए। जब वह यह जान जाता है कि भगवान् कृष्ण ही सभी वस्तुओं के स्रोत हैं और सारी वस्तुएँ उन्हीं से उद्भूत होती हैं (*अहं सर्वस्य प्रभवः*) तो वह वेदान्त की इस सूक्ति— *जन्माद्यस्य यतः* (सभी वस्तुओं का मूल स्रोत) को समझता है और तब वह भाव या ईश्वर-प्रेम की प्रारम्भिक अवस्था में लीन हो जाता है।

रूप गोस्वामी ने *भक्ति-रसामृत-सिंधु* में बड़े ही सुन्दर ढंग से समझाया है कि किस तरह यह *भाव* प्राप्त किया जाता है। उनका कथन है कि सबसे पहले मनुष्य को श्रद्धालु बनना होता हैं (*श्रद्धयान्वितः*)। श्रद्धा की प्राप्ति या तो योगाभ्यास से जिसमें विधि-विधानों एवं आसनों का अभ्यास किया जाता है, या भक्ति योग में सीधे लगने से होती है जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है। भक्तियोग के नौ विभिन्न कार्यक्रमों में सबसे पहला है कीर्तन तथा भगवान् के विषय में श्रवण करना। इसका भी यहाँ उल्लेख हुआ है। *मत्-कथा-श्रवणेन च*। मनुष्य योग के विधि-विधानों का पालन करके *श्रद्धयान्वित* पद तक पहुँच सकता है और यही पद भगवान् के दिव्य कार्यकलापों के मात्र कीर्तन तथा श्रवण द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है। *च* शब्द

महत्पवूर्ण है। भक्तियोग प्रत्यक्ष है और अन्य विधि अप्रत्यक्ष है। किन्तु यदि अप्रत्यक्ष विधि को अपनाया जाय तो भी तब तक सफलता प्राप्त नहीं होती जब तक कि भगवान् की महिमा के श्रवण तथा कीर्तन की प्रत्यक्ष विधि ग्रहण न की जाय। इसीलिए यहाँ *सत्येन* शब्द व्यवहृत हुआ है। स्वामी श्रीधर की टीका है कि *सत्येन* का अर्थ है *निष्कपटेन,* ''छल-कपट के बिना''। निर्विशेषवादी छल-कपट से परिपूर्ण होते हैं। कभी-कभी वे भक्ति करने का स्वाँग भरते हैं, किन्तु उनका चरम लक्ष्य परमेश्वर से तादात्म्य रहता है। यह छल या कपट है। *भागवत* ऐसे कपट की अनुमति प्रदान नहीं करता। *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में स्पष्ट उल्लेख है—*परमो निर्मत्सराणाम्*—''यह *श्रीमद्भागवत* भाष्य उन लोगों के लिए हैं, जो ईर्ष्या से पूर्णतया मुक्त हैं।'' इसी बात पर पुन: बल दिया गया है। श्रीभगवान् के प्रति पूर्णतया श्रद्धावान हुए और भगवान् की महिमा का श्रवण तथा कीर्तन किये बिना मुक्ति की कोई सम्भवाना नहीं रहती।

सर्वभूतसमत्वेन निर्वैरेणाप्रसङ्गत: ।
ब्रह्मचर्येण मौनेन स्वधर्मेण बलीयसा ॥ ७॥

शब्दार्थ

सर्व—सभी; भूत—जीव; समत्वेन—समान रूप से देखने से; निर्वैरेण—बिना शत्रुता के; अप्रसङ्गत:—बिना घनिष्ट सम्बन्ध के; ब्रह्म-चर्येण—ब्रह्मचर्य के द्वारा; मौनेन—मौन व्रत से; स्व-धर्मेण—अपनी वृत्ति से; बलीयसा—फल को अर्पित करने से।

भक्तिमय सेवा सम्पन्न करने में मनुष्य को प्रत्येक जीव को समभाव से एवं किसी के प्रति शत्रुतारहित होते हुए घनिष्ठता से रहित होकर देखना होता है। उसे ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना होता है, गम्भीर होना होता है और कर्म फलों को भगवान् को अर्पित करते हुए अपने नित्य कर्म करने होते हैं।

तात्पर्य : भगवान् का भक्त जो गम्भीरतापूर्वक भक्ति में लगा रहता है उसके लिए समस्त जीव एकसमान हैं। जीवों की विभिन्न योनियाँ हैं, किन्तु भक्त बाहरी आवरण को नहीं देखता, उसे तो शरीर के भीतर निवास करने वाले आत्मा का दर्शन होता है। चूँकि प्रत्येक जीव परमेश्वर का अंश है, अत: वह इनमें कोई अन्तर नहीं देखता। विद्वान भक्त की यही दृष्टि है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है कि किसी भक्त या विद्वान साधु को एक ज्ञानवान ब्राह्मण,

कुत्ते, हाथी या गाय में कोई अन्तर नहीं दिखता, क्योंकि वह जानता है कि शरीर तो केवल बाह्यावरण है और आत्मा ही परमेश्वर का अंश है। भक्त की किसी भी जीव से शत्रुता नहीं होती, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह सबसे घुल-मिल जाता है। इसकी तो रोक रहती है। *अप्रसङ्गत:* का अर्थ ही है ''हर किसी के साथ घनिष्ठता का न होना।'' भक्त को अपनी भक्ति से काम रहता है। अत: उसे अपना लक्ष्य पूरा करने के लिए केवल भक्तों से मिलना-जुलना चाहिए। उसे अन्यों से मिलने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि यद्यपि वह किसी को अपना शत्रु करके नहीं मानता, किन्तु उसका उठना-बैठना भक्ति में लगे हुए व्यक्तियों के साथ ही होता है।

भक्त को ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना चाहिए। ब्रह्मचर्य के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह विषयी जीवन से सर्वथा मुक्त हो; ब्रह्मचर्य-व्रत के अन्तर्गत अपनी पत्नी से सन्तुष्ट रहना भी अनुमत है। सर्वश्रेष्ठ नीति तो विषयी जीवन से सर्वथा बचे रहना है। प्राथमिकता इसी की होती है। अन्यथा धार्मिक नियमों के अनुसार भक्त को विवाह कर लेना चाहिए और अपनी पत्नी के साथ शान्तिपूर्वक रहना चाहिए।

भक्त को अनावश्यक नहीं बोलना चाहिए। गम्भीर भक्त के पास वृथा बोलने के लिए समय नहीं रहता। वह सदैव कृष्णभक्ति में व्यस्त रहता है। जब भी वह बोलता है, तो कृष्ण के विषय में बोलता है। *मौन* का अर्थ है चुप्पी। चुप्पी का अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य बिल्कुल बोले ही नहीं, वरन् यह है कि व्यर्थ न बोले। उसे कृष्ण के विषय में बोलने के लिए अति उत्साहित रहना चाहिए। यहाँ पर जो अन्य महत्त्वपूर्ण बात कही गई है, वह है *स्व-धर्मेण* अर्थात् अपने नित्य कर्म में एकान्तभाव से लगे रहना जिसका अर्थ है कि भगवान् के नित्य दास के रूप में कार्य करना या कि कृष्णभावनामृत में कार्य करना। अगले शब्द *बलीयसा* का अर्थ है ''सारे कार्यों का फल भगवान् को अर्पित करना।'' भक्त कभी अपने इन्द्रियतृप्ति के लिए कोई कार्य नहीं करता। वह जो भी कमाता है, जो भी खाता है और जो भी करता है उसे वह भगवान् को प्रसन्न करने के लिए अर्पित कर देता है।

यदृच्छयोपलब्धेन सन्तुष्टो मितभुङ्मुनिः ।
विविक्तशरणः शान्तो मैत्रः करुण आत्मवान् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

यदृच्छया—बिना कठिनाई के; उपलब्धेन—जो कुछ उपलब्ध है उसी से; सन्तुष्टः—सन्तुष्ट; मित—कम; भुक्—खाकर; मुनिः—विचारवान; विविक्त-शरणः—एकान्त स्थान में रहकर; शान्तः—शान्त स्वभाव; मैत्रः—मैत्रीपूर्ण; करुणः—दयालु; आत्म-वान्—स्वरूपसिद्ध।

भक्त को चाहिए कि बहुत कठिनाई के बिना जो कुछ वह कमा सके उसी से सन्तुष्ट रहे। जितना आवश्यक हो उससे अधिक उसे नहीं खाना चाहिए। उसे एकान्त स्थान में रहना चाहिए और सदैव विचारवान, शान्त, मैत्रीपूर्ण, उदार तथा स्वरूपसिद्ध होना चाहिए।

तात्पर्य : जिस किसी ने भी शरीर स्वीकार किया है उसे काम करके या किसी आजीविका के द्वारा शरीर की आवश्यकताएँ पूरी करनी चाहिए। भक्त को उतनी आय के लिए ही कार्य करना चाहिए जितनी नितान्त आवश्यकता हो। उसे इतनी ही आय से संतुष्ट रहना चाहिए और अनावश्यक रूप से संचित करने के लिए तथा अधिक के लिए प्रयास नहीं करना चाहिए। बद्ध अवस्था में जिस मनुष्य के पास धन नहीं होता वह प्रकृति पर प्रभुत्व जमाने के उद्देश्य से धन कमाने के लिए सदैव कठिन श्रम करता देखा जाता है। कपिलदेव उपदेश देते हैं कि हमें ऐसी वस्तुओं के लिए कठिन प्रयास करने की आवश्यकता नहीं जो किसी बाह्य परिश्रम के बिना स्वतः मिल सकती हैं। इस प्रसंग में प्रयुक्त सही शब्द है *यदृच्छया* जिसका अर्थ है कि प्रत्येक जीव को इस शरीर में पूर्वनिर्धारित सुख तथा दुख मिलते हैं, यह कर्म का सिद्धान्त कहलाता है। ऐसा सम्भव नहीं कि अधिकाधिक धन संग्रह के प्रयासों से ही मनुष्य ऐसा कर सकेगा अन्यथा प्रायः सारे व्यक्ति अपने पूर्वनिर्धारित कर्म के अनुसार कमाते तथा प्राप्त करते हैं। *भागवत* के इस निष्कर्ष के अनुसार कभी-कभी हमें बिना चाहे अत्यन्त घातक तथा कष्टमय परिस्थितियों का सामना करना पड़ सकता है, तो कभी बिना प्रयास के वैभवपूर्ण परिस्थितियाँ प्राप्त हो सकती हैं। हमें उपदेश दिया जाता है कि ये वस्तुएँ पूर्वनिर्धारित रूप से आती हैं। हमें अपना अमूल्य समय कृष्णभक्ति में लगाने का प्रयत्न करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को

अपनी सहज अवस्था से सन्तुष्ट रहना चाहिए। यदि प्रारब्धवश कोई ऐसी परिस्थिति में पड़ जाय जिसमें दूसरे की तुलना में वह अधिक वैभवसम्पन्न न हो तो उसे विचलित नहीं होना चाहिए। उसे चाहिए कि वह अपना समय कृष्णभक्ति बढ़ाने में लगावे। कृष्णभक्ति में उन्नति किसी सम्पन्न या विपन्न अवस्था पर निर्भर नहीं करती, यह भौतिक जीवन द्वारा लगाये जाने वाले प्रतिबन्धों से मुक्त है। एक अत्यन्त निर्धन व्यक्ति अत्यन्त धनी व्यक्ति के ही समान कृष्णभक्ति कर सकता है। अत: उसे भगवान् द्वारा प्रदत्त अपनी स्थिति से सन्तुष्ट रहना चाहिए।

यहाँ अन्य शब्द *मित्भुक्* आया है। इसका यह अर्थ है कि मनुष्य को शरीर बनाये रखने के लिए जितनी आवश्यकता हो उतना ही भोजन करना चाहिए। मनुष्य को जीभ की तुष्टि के कारण पेटू नहीं बन जाना चाहिए। मनुष्य के खाने के लिए अन्न, फल, दूध तथा ऐसे ही आहार उपलब्ध हैं। मनुष्य को स्वाद के प्रति अत्यधिक ललायित नहीं रहना चाहिए और वह सब नहीं खाना चाहिए जो मनुष्यों के लिए नहीं है। स्पष्ट रूप से भक्तों को *प्रसाद* खाना चाहिए जो भगवान् को अर्पित भोजन होता है। वह ऐसे भोजन के उच्छिष्ट अंश को ही ग्रहण करे। भगवान् को अन्न, तरकारियाँ, फल, फूल तथा दूध की बनी सात्विक वस्तुएँ ही अर्पित की जाती हैं, अत: रजोगुणी तथा तमोगुणी भोजन अर्पित करने के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। भक्त को लालची नहीं होना चाहिए। यह भी संस्तुति की गई है कि भक्त *मुनि* अर्थात् विचारवान हो; उसे सदैव कृष्ण का चिन्तन करना चाहिए और भगवान् की अच्छी तरह से सेवा करने के बारे में सोचना चाहिए। उसकी एकमात्र यही चिन्ता होनी चाहिए। जिस प्रकार एक भौतिकतावादी अपनी भौतिक दशा सुधारने के लिए सदैव सचेष्ट रहता है उसी तरह भक्त को चाहिए सदैव कृष्णभावनामृत में अपनी स्थिति में सुधार लाने के विचारों में लगा रहे, इसीलिए भक्त को *मुनि* होना चाहिए।

अगली संस्तुति-यह है कि भक्त को एकान्त स्थान में रहना चाहिए। सामान्य रूप से मनुष्य पौंड-शिलिंग-पेंस अर्थात् भौतिक उन्नति में रुचि रखता है, जो भक्त के लिए अनावश्यक नहीं है। भक्त को ऐसा वास-स्थान चुनना चाहिए जहाँ प्रत्येक व्यक्ति भक्ति में रुचि

रखता हो। अतः सामान्य रूप से भक्त किसी पवित्र तीर्थस्थल में चला जाता है जहाँ भक्तगण रहते हैं। यह संस्तुति की गई है कि भक्त ऐसे स्थान में रहे जहाँ बड़ी संख्या में सामान्य व्यक्ति न रहते हों। एकान्त स्थान में वास करना अत्यावश्यक है (*विविक्त-शरण*)। अगली बात है *शान्त*। भक्त को उद्विग्न नहीं होना चाहिए। उसे अपनी सहज आय से सन्तुष्ट रहना चाहिए, स्वास्थ्य के लिए जितना आवश्यक हो उतना ही खाना चाहिए, एकान्त स्थान में रहना चाहिए और सदैव शान्त रहना चाहिए। कृष्णभक्ति सम्पन्न करने के लिए मन की शान्ति आवश्यक है।

अगली बात है *मैत्र* अर्थात् मैत्रीभाव। भक्त को हर एक के साथ मैत्रीभाव रखना चाहिए, किन्तु उसकी घनिष्ठता केवल भक्तों से होनी चाहिए। अन्यों के साथ औपचारिक होना चाहिए। वह कहे ''हाँ, महाशय, आप जो कहते हैं वह सब ठीक है,'' किन्तु उनके साथ घनिष्ठ न बने। किन्तु ऐसे भक्त को ऐसे लोगों पर दयालु होना चाहिए जो भोले-भाले हैं, जो न तो नास्तिक हैं और न आत्म-साक्षात्कार में अत्यधिक प्रगत हैं। भक्त को इनके प्रति दयाभाव रखना चाहिए और जहाँ तक हो सके कृष्णभक्ति में प्रगति करने के लिए उपदेश देना चाहिए। भक्त को सदैव *आत्मवान्* या स्वरूपसिद्ध होना चाहिए। उसे यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि उसका मुख्य कार्य आध्यात्मिक चेतना या कृष्णभक्ति में प्रगति लाना है। वह भूलकर भी अपने को शरीर या मन नहीं समझे। आत्मा का अर्थ है शरीर अथवा मन, किन्तु यहाँ *आत्मवान्* का विशेष अर्थ है कि मनुष्य को अपने वश में होना चाहिए। उसे सदैव इस शुद्ध चेतना में रहना चाहिए कि वह शरीर या मन न होकर आत्मा है। इससे वह विश्वासपूर्वक कृष्णभक्ति में प्रगति कर सकेगा।

सानुबन्धे च देहेऽस्मिन्नकुर्वन्नसदाग्रहम् ।
ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन प्रकृतेः पुरुषस्य च ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

स-अनुबन्धे—शारीरिक सम्बन्धों से; च—तथा; देहे—शरीर के प्रति; अस्मिन्—इस; अकुर्वन्—न करते हुए; असत्-आग्रहम्—जीवन का देह-बोध; ज्ञानेन—ज्ञान के द्वारा; दृष्ट—देखकर; तत्त्वेन—वास्तविकता; प्रकृतेः—पदार्थ की; पुरुषस्य—आत्मा की; च—तथा।

मनुष्य को आत्मा तथा पदार्थ के ज्ञान के द्वारा देखने की शक्ति बढ़ानी चाहिए और उसे व्यर्थ ही शरीर के रूप में अपनी पहचान नहीं करनी चाहिए, अन्यथा वह शारीरिक

सम्बन्धों खिंचा चला जाएगा।

तात्पर्य : बद्धजीव अपने को शरीर समझकर शरीर को 'मैं' मान लेता है और शरीर से सम्बन्ध रखने वाली किसी भी वस्तु को 'मेरी'। संस्कृत में इसे *अहं ममता* कहते हैं और यह समस्त बद्धजीवन का मूल कारण है। मनुष्य को चाहिए कि वस्तुओं को पदार्थ तथा आत्मा का संयोग मान के चले। उसे पदार्थ की प्रकृति तथा आत्मा की प्रकृति में अन्तर करना चाहिए और उसकी असली पहचान पदार्थ के साथ न होकर आत्मा के साथ होनी चाहिए। इस ज्ञान से उसे भ्रान्त देहात्मबुद्धि से बचना चाहिए।

निवृत्तबुद्ध्यवस्थानो दूरीभूतान्यदर्शनः ।
उपलभ्यात्मनात्मानं चक्षुषेवार्कमात्मदृक् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

निवृत्त—अलग; बुद्धि-अवस्थानः—भौतिक चेतना की अवस्थाएँ; दूरी-भूत—सुदूर; अन्य—दूसरा; दर्शनः—जीवन बोध; उपलभ्य—प्राप्त करके; आत्मना—अपने विशुद्ध विवेक से; आत्मानम्—अपने आपको; चक्षुषा—अपनी आँखों से; इव—सदृश; अर्कम्—सूर्य; आत्म-दृक्—स्वरूपसिद्ध।.

मनुष्य को भौतिक चेतना की अवस्थाओं से परे दिव्य स्थिति में रहना चाहिए और अन्य समस्त जीवन-बोधों से विलग रहना चाहिए। इस प्रकार अहंकार से मुक्त होकर उसे अपने आपको उसी तरह देखना चाहिए जिस प्रकार वह आकाश में सूर्य को देखता है।

तात्पर्य : भौतिक जीवन-बोध के अधीन चेतना तीन अवस्थाओं में कार्य करती है। जब हम जाग्रत रहते हैं, तो चेतना एक विशिष्ट प्रकार से कार्य करती है, जब सुप्त रहते हैं, तो दूसरे प्रकार से कार्य करती है और जब प्रगाढ़ निद्रा में होते हैं, तो चेतना एक अन्य ढंग से कार्य करती है। कृष्णभावनाभावित होने के लिए मनुष्य को चेतना की इन अवस्थाओं से पार चले जाना होता है। हमारी वर्तमान चेतना को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण की चेतना (भक्ति) के अतिरिक्त अन्य समस्त जीवन-बोधों से मुक्त होना चाहिए। यह *दूरी-भूतान्य-दर्शनः* कहलाता है, जिसका भाव यह है कि जब उसे पूर्ण कृष्णचेतना (भक्ति) प्राप्त हो जाती है, तो उसे कृष्ण के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिखता। *चैतन्य-चरितामृत* में कहा गया है कि पूर्ण भक्त अनेक चर तथा अचर पदार्थ देखता है, किन्तु उन सबों में वह कृष्ण की शक्ति को कार्यशील पाता है।

ज्योंही वह कृष्ण की शक्ति का स्मरण करता है त्योंही उसे कृष्ण का साकार रूप याद हो आता है। अत: वह सारे अवलोकनों में कृष्ण को ही देखता है। *ब्रह्म-संहिता* (५.३८) में कहा गया है कि जब मनुष्य की आँखों में कृष्णप्रेम का अञ्जन लगा रहता है (*प्रेमाञ्जनच्छुरित*), तो उसे सदा भीतर-बाहर श्रीकृष्ण के दर्शन होते हैं। यहाँ पर इसकी पुष्टि होती है। मनुष्य को अन्य सभी भावों से मुक्त रहना चाहिए। तभी वह झूठे अहंकार से मुक्त होकर अपने को भगवान् के शाश्वत दास के रूप में देखता है। *चक्षुषेवार्कम्*—जिस प्रकार हम सूर्य को बिना सन्देह के देख सकते हैं उसी तरह जो कृष्णभक्ति में सिद्धहस्त हो चुका है, वह कृष्ण तथा उनकी शक्ति का दर्शन करता है। इस भावभूमि में वह *आत्मदृक्* अर्थात् स्वरूपसिद्ध हो जाता है। जब आत्मा के साथ शरीर की पहचान का अहंकार दूर हो जाता है, तो वास्तविक जीवन-दृष्टि दिखलाई पड़ती है। अत: इन्द्रियाँ भी शुद्ध हो जाती हैं। इन्द्रियों के शुद्ध होने पर ही भगवान् की असली सेवा प्रारम्भ होती है। मनुष्य को चाहिए कि इन्द्रियों के कार्यों को बन्द न करे, अपितु शरीर के अहंकार को दूर करे। तब इन्द्रियाँ स्वत: शुद्ध हो जाती हैं और शुद्ध इन्द्रियों से ही असली भक्ति की जा सकती है।

मुक्तलिङ्गं सदाभासमसति प्रतिपद्यते ।
सतो बन्धुमसच्चक्षु: सर्वानुस्यूतमद्वयम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

मुक्त-लिङ्गम्—दिव्य; सत्-आभासम्—प्रतिबिम्ब रूप में प्रकट; असति—अहंकार में; प्रतिपद्यते—उसे बोध होता है; सत: बन्धुम्—भौतिक कारण का आधार; असत्-चक्षु:—माया के नेत्र; सर्व-अनुस्यूतम्—हर वस्तु में प्रविष्ट; अद्वयम्—अद्वितीय।.

मुक्त जीव को उस परमेश्वर का साक्षात्कार होता है, जो दिव्य है और अहंकार में भी प्रतिबिम्बि के रूप में प्रकट होता है। वे भौतिक कारण के आधार हैं तथा प्रत्येक वस्तु में प्रवेश करने वाले हैं। वे अद्वितीय हैं और माया के नेत्र हैं।

तात्पर्य : शुद्ध भक्त को प्रत्येक भौतिक वस्तु में भगवान् की उपस्थिति दिख सकती है। वे इनमें मात्र प्रतिबिम्ब रूप में विद्यमान रहते हैं, किन्तु शुद्ध भक्त अनुभव करता है कि मोह के अंधकार में ईश्वर ही एकमात्र आधारस्वरूप प्रकाश होता है। *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है

भौतिक जगत की पृष्ठभूमि श्रीकृष्ण हैं और *ब्रह्म-संहिता* में भी इसी की पुष्टि है कि कृष्ण ही समस्त कारणों के कारण हैं। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि परमेश्वर अपने अंश या पूर्ण विस्तार से न केवल इस ब्रह्माण्ड में और प्रत्येक ब्रह्माण्ड में, अपितु हर परमाणु में उपस्थित हैं, यद्यपि वे अद्वितीय हैं। इस श्लोक में प्रयुक्त *अद्वयम्* शब्द बताता है कि यद्यपि भगवान् का प्रतिनिधित्व परमाणु सहित प्रत्येक वस्तु में है, किन्तु वे अविभाज्य हैं। प्रत्येक वस्तु में उनकी उपस्थिति का वर्णन अगले श्लोक में हुआ है।

यथा जलस्थ आभासः स्थलस्थेनावदृश्यते ।
स्वाभासेन तथा सूर्यो जलस्थेन दिवि स्थितः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; जल-स्थः—जल में स्थित; आभासः—प्रतिबिम्ब; स्थल-स्थेन—दीवाल में स्थित; अवदृश्यते—देखा जाता है; स्व-आभासेन—अपने प्रतिबिम्ब से; तथा—उसी तरह; सूर्यः—सूर्य; जल-स्थेन—जल में स्थित; दिवि—आकाश में; स्थितः—स्थित।

जिस प्रकार आकाश में स्थित सूर्य को सर्वप्रथम जल में पड़े प्रतिबिम्ब से और फिर कमरे की दीवाल पर पड़े दूसरे प्रतिबिम्ब से देखा जाता है, उसी तरह परमेश्वर की उपस्थिति महसूस की जाती है।

तात्पर्य : यहाँ पर दिया गया उदाहरण सटीक है। सूर्य पृथ्वी की सतह से अत्यन्त दूरी पर आकाश में स्थित है, किन्तु उसका प्रतिबिम्ब कमरे के एक कोने में जल के पात्र में भी देखा जा सकता है। कमरा अँधेरा है और सूर्य सुदूर आकाश में स्थित है, किन्तु जल में पड़े सूर्य के प्रतिबिम्ब से अंधियारा कमरा प्रकाशित हो उठता है। शुद्ध भक्त भगवान् को उनकी शक्ति के प्रतिबिम्ब के द्वारा हर वस्तु में देख सकता है। *विष्णु पुराण* में कहा गया है कि जिस तरह अग्नि की उपस्थिति उष्मा तथा प्रकाश से जानी जाती है उसी तरह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्, अद्वितीय होने पर भी अपनी विभिन्न शक्तियों के विसरण से सर्वत्र देखे जाते हैं। *ईशोपनिषद* में पुष्टि की गई है कि मुक्त जीव को सर्वत्र भगवान् वैसे ही दिखते हैं जिस तरह पृथ्वी की सतह से सुदूर स्थित रहकर भी सूर्य के प्रकाश तथा प्रतिबिम्ब को देखा जा सकता है।

एवं त्रिवृदहङ्कारो भूतेन्द्रियमनोमयैः ।
स्वाभासैर्लक्षितोऽनेन सदाभासेन सत्यदृक् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; त्रि-वृत्—त्रिविध, तीन प्रकार का; अहङ्कारः—अहंकार; भूत-इन्द्रिय-मनः-मयैः—शरीर, इन्द्रियाँ तथा मन से युक्त; स्व-आभासैः—अपने ही प्रतिबिम्बों से; लक्षितः—देखा जाता है; अनेन—इसके द्वारा; सत्-आभासेन—ब्रह्म के प्रतिबिम्ब से; सत्य-दृक्—आत्मवान्, स्वरूपसिद्ध आत्मा।

इस प्रकार स्वरूपसिद्ध आत्मा सर्वप्रथम त्रिविध अहंकार में और तब शरीर, इन्द्रियों एवं मन में प्रतिबिम्बित होता है।

तात्पर्य : बद्धजीव सोचता है कि, "मैं यह शरीर हूँ," किन्तु मुक्त जीव सोचता है "मैं यह शरीर नहीं हूँ, मैं आत्मा हूँ।" यह "मैं हूँ" अहं (गर्व) कहलाता है। "मैं यह शरीर हूँ" अथवा "इस शरीर से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु मेरी है" यह अहंकार कहलाता है, किन्तु जब कोई स्वरूपसिद्ध हो जाता है और सोचता है कि वह परमेश्वर का चिर दास है, तो यह पहचान वास्तविक अहं है। इनमें से प्रकृति के तीन गुणों—सतो, रजो तथा तमो—में से एक विचार है तमो अर्थात् अन्धकार का और दूसरा है सतोगुण की शुद्ध अवस्था में जिसे *शुद्ध सत्त्व* या *वासुदेव* कहते हैं। जब हम कहते हैं कि हम अपना गर्व (अहं) त्यागते हैं, तो इसका अर्थ है कि हम मिथ्या अहम् त्यागते हैं, किन्तु असली अहम् तो सदैव विद्यमान रहता है। जब मनुष्य शरीर तथा मन के भौतिक कल्मष के द्वारी झूठी पहचान में प्रतिबिम्बित होता है, तो वह बद्ध अवस्था में रहता है और जब शुद्ध अवस्था में प्रतिबिम्बित होता है, तो वह मुक्त कहलाता है। बद्ध अवस्था में अपनी भौतिक सम्पत्ति के साथ पहचान को शुद्ध करना चाहिए और उसे अपने आपकी पहचान परमेश्वर के साथ करनी चाहिए। बद्ध अवस्था में मनुष्य हर वस्तु को इन्द्रियतृप्ति की वस्तु मान लेता है, जबकि मुक्त अवस्था में वह हर वस्तु को परमेश्वर की सेवा के लिए ग्रहण करता है। जीव की असली मुक्त अवस्था कृष्णचेतना अर्थात् भक्तिमय सेवा है। अन्यथा शुद्ध आत्मा के लिए भौतिक स्तर पर या शून्य में स्वीकारोक्ति तथा अस्वीकारोक्ति या निर्विशेषवाद अपूर्ण अवस्थाएँ हैं।

विशुद्ध आत्मा को, जिसे *सत्यदृक्* कहा गया है, जान लेने से मनुष्य हर वस्तु को परमेश्वर के प्रतिबिम्ब रूप में देखता है। इस सम्बन्ध में एक ठोस उदाहरण दिया जा सकता है।

बद्धजीव एक अत्यन्त सुन्दर गुलाब देखता है और सोचता है कि इस सुगन्धित पुष्प का उपयोग अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए क्यों न करूँ। यह एक प्रकार की दृष्टि है। किन्तु एक मुक्त आत्मा इसी फूल को परमेश्वर के प्रतिबिम्ब के रूप में देखता है और सोचता है, ''यह फूल परमेश्वर की श्रेष्ठ शक्ति से सम्भव हो सका, अत: यह उनका है और इसका उपयोग उनकी सेवा में होना चाहिए।'' ये दो प्रकार की दृष्टियाँ हैं। बद्धजीव इस फूल को अपने भोग की वस्तु के रूप में और भक्त इस फूल को भगवान् की सेवा में प्रयुक्त होने वाली वस्तु के रूप में देखता है। इसी प्रकार मनुष्य परमेश्वर के प्रतिबिम्ब को अपनी इन्द्रियों, मन तथा शरीर—यहाँ तक कि सारी वस्तुओं में देख सकता है। इस सही दृष्टि से वह प्रत्येक वस्तु को भगवान् की सेवा में लगाता है। *भक्ति-रसामृत-सिंधु* में कहा गया है कि जिसने अपना सब कुछ—अपनी प्राणशक्ति, सम्पत्ति, बुद्धि तथा वाणी—भगवान् की सेवा में लगा दिया है या जो इन्हें उनकी सेवा में लगाना चाहता है उसे मुक्त आत्मा या *सत्यदृक्* मानना चाहिए भले ही वह कैसी ही स्थिति क्यों न हो। ऐसा व्यक्ति वस्तुओं को उसी रूप में जाने रहता है।

भूतसूक्ष्मेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिष्विह निद्रया ।
लीनेष्वसति यस्तत्र विनिद्रो निरहङ्क्रियः ॥ १४॥

शब्दार्थ

भूत—भौतिक तत्त्व; सूक्ष्म—भोग की वस्तुएँ; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; मनः—मन; बुद्धि—बुद्धि; आदिषु—इत्यादि; इह—यहाँ; निद्रया—नींद से; लीनेषु—लीन; असति—अप्रकट में; यः—जो; तत्र—वहाँ; विनिद्रः—जगा हुआ; निरहङ्क्रियः—अहंकार से रहित।

यद्यपि ऐसा लगता है भक्त पाँचों तत्त्वों, भोग की वस्तुओं, इन्द्रियों तथा मन और बुद्धि में लीन है, किन्तु वह जागृत रहता है और अंधकार से रहित होता है।

तात्पर्य : रूप गोस्वामी द्वारा *भक्ति-रसामृत-सिंधु* में दी गई व्याख्या कि किस प्रकार मनुष्य इसी शरीर में मुक्त हो जाता है इस श्लोक में विस्तार से दी गई है। वह जीवात्मा, जो *सत्यदृक्* हो चुका है, जिसने भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को समझ लिया है, वह पदार्थ के पाँच तत्त्वों, पाँच भौतिक इन्द्रिय विषयों, दस इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि में लीन रह सकता है, तो भी वह जागृत रहता है और अहंकार के फल से मुक्त माना जाता है। यहाँ पर *लीन* शब्द

अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मायावादी चिन्तक ब्रह्म के निर्विशेष तेज में लीन होने की संस्तुति करते हैं, यही उनका चरम लक्ष्य या गन्तव्य होता है। यहाँ पर इस लीन होने का भी उल्लेख है। किन्तु इस तरह लीन होने के बावजूद मनुष्य अपना व्यक्तित्व बनाये रख सकता है। जीव गोस्वामी ने एक उदाहरण दिया है कि हरे वृक्ष में प्रवेश करने वाला हरा पक्षी हरियाली में लीन होता प्रतीत होता है, किन्तु पक्षी वस्तुत: अपने व्यक्तित्व को खोता नहीं। इसी प्रकार भौतिक प्रकृति या आध्यात्मिक प्रकृति में लीन जीवात्मा अपने व्यक्तित्व का त्याग नहीं करता। वास्तविक व्यक्तित्व तो अपने को परमेश्वर का नित्य दास समझना है। यह जानकारी हमें भगवान् चैतन्य के मुख से प्राप्त होती है। उन्होंने सनातन गोस्वामी के पूछने पर स्पष्ट कहा कि जीवात्मा कृष्ण का शाश्वत दास है। कृष्ण भी *भगवद्गीता* में पुष्टि करते हैं कि जीवात्मा शाश्वत रूप से उनका अंश है। अंश पूर्ण की सेवा के प्रयोजन के लिए होता है। यही व्यक्तित्व है। यहाँ तक कि यह इस भौतिक जगत में भी जीवात्मा पदार्थ में लीन होता है पाया जाता है। उसका स्थूल शरीर पाँच तत्त्वों का बना होता है, उसका सूक्ष्म शरीर मन, बुद्धि, अहंकार तथा कलुषित चेतना का बना होता है और उसके पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं। इस प्रकार वह पदार्थ में लीन हो जाता है, किन्तु पदार्थ के चौबीसों तत्त्वों में लीन होते हुए भी वह भगवान् के दास रूप में अपना व्यक्तित्व बनाये रखता है। चाहे वह आध्यात्मिक प्रकृति में हो या भौतिक प्रकृति में हो, ऐसा दास मुक्त जीव माना जाता है। यह शास्त्रों की व्याख्या है और इस श्लोक में इसकी पुष्टि हुई है।

मन्यमानस्तदात्मानमनष्टो नष्टवन्मृषा ।
नष्टेऽहङ्करणे द्रष्टा नष्टवित्त इवातुरः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

मन्यमानः—सोचते हुए; तदा—तब; आत्मानम्—स्वयं; अनष्टः—यद्यपि नष्ट नहीं; नष्ट-वत्—नष्ट के समान; मृषा—झूठे ही; नष्टे अहङ्करणे—अहंकार के नष्ट होने से; द्रष्टा—देखने वाला; नष्ट-वित्तः—जिसकी सम्पत्ति नष्ट हो गई है; इव—सदृश; आतुरः—दुखी।.

जीवात्मा स्पष्ट रूप से द्रष्टा के रूप में अपने अस्तित्व का अनुभव कर सकता है, किन्तु प्रगाढ़ निद्रा के समय अहंकार के दूर हो जाने के कारण वह अपने को उस तरह

विनष्ट हुआ मान लेता है, जिस प्रकार सम्पत्ति के नष्ट होने पर मनुष्य अपने को विनष्ट हुआ समझता है।

तात्पर्य : केवल अज्ञानवश ही जीवात्मा सोचता है कि वह विनष्ट हो गया। यदि वह ज्ञान प्राप्त करके अपने शाश्वत अस्तित्व की वास्तविक दशा से अवगत हो लेता है, तो वह जानता है कि वह विनष्ट नहीं हुआ। यहाँ पर उपयुक्त उदाहरण दिया गया है—*नष्ट-वित्त इवातुरः*। वह मनुष्य जिसका विपुल धन नष्ट हो जाता है अपने आपको विनष्ट समझता है, किन्तु वास्तव में वह विनष्ट हुआ नहीं होता—केवल उसका धन विनष्ट होता है। किन्तु धन के विषय में तल्लीनता अथवा धन को ही आत्म मानने से वह अपने को विनष्ट समझता है। इसी प्रकार जब हम पदार्थ को अपना कार्यक्षेत्र मान लेते हैं, तो सोचते हैं कि हम विनष्ट हो गये यद्यपि वास्तव में ऐसा होता नहीं। ज्योंही मनुष्य में इस शुद्ध ज्ञान का उदय होता है कि वह भगवान् का नित्य दास है, तो उसकी अपनी वास्तविक स्थिति पुनः प्राप्त हो जाती है। जीवात्मा कभी विनष्ट नहीं हो सकता। प्रगाढ़ निद्रा में मनुष्य अपनी पहचान भूल जाता है, वह सपनों में खो जाता है और तब वह अपने को एक भिन्न व्यक्ति या कि अपने आपको विनष्ट सोच सकता है। किन्तु वास्तव में उसकी पहचान (सत्ता) ज्यों की त्यों बनी रहती है। विनष्ट होने का यह भाव अहंकार के कारण है और यह तब तक बना रहता है जब तक मनुष्य में यह ज्ञान नहीं जगता कि वह भगवान् का नित्य दास है। अहंकार से विनष्ट होने का दूसरा लक्षण है *मायावादी* चिन्तकों की परमेश्वर से तादात्म्य की विचारधारा। मनुष्य झूठे ही दावा कर सकता है कि मैं परमेश्वर हूँ, किन्तु वास्तव में वह वैसा होता नहीं। जीवात्मा पर माया के प्रभाव का यह अन्तिम पाश होता है। अपने आपको परमेश्वर के तुल्य मानना या कि स्वयं को परमेश्वर समझ लेना अहंकार के ही कारण होता है।

एवं प्रत्यवमृश्यासावात्मानं प्रतिपद्यते ।
साहङ्कारस्य द्रव्यस्य योऽवस्थानमनुग्रहः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; प्रत्यवमृश्य—विचार करके; असौ—वह व्यक्ति; आत्मानम्—अपने आपको; प्रतिपद्यते—अनुभव करता है; स-अहङ्कारस्य—अहंकार के वश में माना हुआ; द्रव्यस्य—स्थिति का; यः—जो; अवस्थानम्—आश्रय, अधिष्ठान; अनुग्रहः—प्रकाशक।

जब मनुष्य परिपक्व ज्ञान के द्वारा अपने व्यक्तित्व का अनुभव करता है, तो अहंकारवश वह जिस स्थिति को स्वीकार करता है, वह उसे प्रकट हो जाती है।

तात्पर्य : मायावादी चिन्तक की स्थिति यह है कि अन्ततः व्यक्ति (वैशिष्ट्य) विनष्ट हो जाता है, सारी वस्तुएँ एक हो जाती हैं और ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान में अन्तर नहीं रह जाता। किन्तु सूक्ष्म विश्लेषण से पता चलता है कि यह सही नहीं है। व्यक्तित्व (व्यष्टित्व) कभी विनष्ट नहीं होता, यहाँ तक कि तब भी जब मनुष्य यह सोचता होता है कि तीन भिन्न तत्त्व अर्थात् ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान एकाकार हो गये हैं। यह विचारधारा कि तीनों एक में लीन हो जाते हैं ज्ञान का दूसरा रूप है और चूँकि ज्ञान रूपी द्रव्य अब भी विद्यमान रहता है, अतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान एक हो गये हैं। इस ज्ञान को देखने वाला व्यष्टि जीव अब भी एक व्यक्ति बना रहता है। भौतिक जगत तथा आध्यात्मिक जगत दोनों ही में सत्ता बनी रहती है, अन्तर है, तो केवल पहचान की गुणता में। भौतिक पहचान में अहंकार कार्य करता है और गलत पहचान के कारण मनुष्य वस्तुओं को उनके वास्तविक रूप से भिन्न करके ग्रहण करता है। बद्ध जीवन का मूल सिद्धान्त यही है। इसी प्रकार जब अहंकार शुद्ध हो जाता है, तो मनुष्य हर वस्तु को सही रूप में ग्रहण करता है। यह मुक्ति की अवस्था है।

ईशोपनिषद् में कहा गया है कि प्रत्येक वस्तु भगवान् की है। *ईशावास्यमिदं सर्वम्*। प्रत्येक वस्तु परमेश्वर की शक्ति पर स्थित है। *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि हुई है। चूँकि प्रत्येक वस्तु उन्हीं की शक्ति से उत्पन्न है और उनकी शक्ति पर स्थित है, अतः यह शक्ति उनसे भिन्न नहीं है, तो भी भगवान् कहते हैं, "मैं वहाँ नहीं हूँ"। जब मनुष्य अपनी स्वाभाविक स्थिति को समझ लेता है, तो सब कुछ प्रकट हो जाता है। वस्तुओं की अहंकारजन्य स्वीकृति से मनुष्य बद्ध होता है, किन्तु उनकी सही-सही स्वीकृति से वह मुक्त बनता है। पिछले श्लोक का उदाहरण यहाँ लागू होता है—अपने धन में अपनी पहचान करने से, जब मनुष्य का धन नष्ट हो जाता है, तो वह सोचता है कि वह भी नष्ट हो गया। किन्तु वास्तव में वह धन से एकरूप नहीं है और न

यह धन उसका है। जब वास्तविक स्थिति प्रकट हो जाती है, तो हम समझ पाते हैं कि धन किसी एक व्यक्ति या जीवात्मा का नहीं है, न ही वह मनुष्य द्वारा उत्पन्न है। अन्तत: यह धन परमेश्वर की सम्पत्ति है, अत: उसके विनष्ट होने का प्रश्न नहीं उठता। किन्तु जब तक मनुष्य झूठे ही सोचता है कि, ''मैं भोक्ता हूँ'' या ''मैं ही भगवान् हूँ'' तब तक जीवन की यह विचारधारा चलती रहती है और मनुष्य बद्ध रहता है। ज्योंही यह अहंकार दूर हो जाता है, तो वह मुक्त हो जाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है मनुष्य की स्वाभाविक स्थिति ही मुक्ति की स्थिति है।

देवहूतिरुवाच
पुरुषं प्रकृतिर्ब्रह्मन्न विमुञ्चति कर्हिचित् ।
अन्योन्यापाश्रयत्वाच्च नित्यत्वादनयो: प्रभो ॥ १७॥

शब्दार्थ

देवहूति: उवाच—देवहूति ने कहा; पुरुषम्—आत्मा; प्रकृति:—प्रकृति; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; न—नहीं; विमुञ्चति—छोड़ती है; कर्हिचित्—किसी भी समय, कभी; अन्योन्य—परस्पर; अपाश्रयत्वात्—आकर्षण से; च—तथा; नित्यत्वात्—नित्यता से; अनयो:—उन दोनों का; प्रभो—हे भगवान्।

श्री देवहूति ने पूछा : हे ब्राह्मण, क्या कभी प्रकृति आत्मा का परित्याग करती है? चूँकि इनमें से कोई एक दूसरे के प्रति शाश्वत रूप से आकर्षित रहता है, तो उनका पृथकत्व (वियोग) कैसे सम्भव है?

तात्पर्य : कपिल की माता देवहूति यहाँ पर पहला प्रश्न पूछती हैं। यद्यपि मनुष्य जानता है कि आत्मा तथा पदार्थ भिन्न हैं, किन्तु न तो दार्शनिक चिन्तन से और न उपयुक्त ज्ञान से उनको विलग किया जाता है। आत्मा परमेश्वर की तटस्था शक्ति है और पदार्थ बहिरंगा शक्ति है। ये दोनों नित्य शक्तियाँ न जाने किस तरह मिल गई हैं कि अब इनको एक दूसरे से विलग करना कठिन है, तो फिर यह कैसे सम्भव है कि प्रत्येक जीव मुक्त हो सके? व्यावहारिक अनुभव द्वारा यह देखा जा सकता है कि जब आत्मा को शरीर से विलग कर दिया जाता है, तो शरीर का कोई अस्तित्व नहीं रहता और जब शरीर को आत्मा से विलग लिया जाता है, तो आत्मा का अस्तित्व नहीं दिखता। जब तक आत्मा तथा शरीर मिले रहते हैं हम समझते हैं कि जीवन

है, किन्तु उनके विलग होते ही शरीर या आत्मा का अस्तित्व नहीं दिखता। देवहूति द्वारा कपिल से पूछा गया यह प्रश्न शून्यवाद दर्शन से थोड़ा-बहुत प्रेरित है। शून्यवादी कहते हैं कि चेतना पदार्थ के संयोग से उत्पन्न है और ज्योंही चेतना चली जाती है, भौतिक संयोग विलीन हो जाता है, अत: अन्त में शून्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता। मायावाद दर्शन में चेतना की इस अनुपस्थिति को *निर्वाण* कहते हैं।

यथा गन्धस्य भूमेश्च न भावो व्यतिरेकत: ।
अपां रसस्य च यथा तथा बुद्धे: परस्य च ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; गन्धस्य—गन्ध का; भूमे:—पृथ्वी की; च—तथा; न—नहीं; भाव:—अस्तित्व; व्यतिरेकत:—पृथक्; अपाम्—जल का; रसस्य—स्वाद का; च—तथा; यथा—जिस तरह; तथा—उसी तरह; बुद्धे:—बुद्धि का; परस्य—चेतना या आत्मा का; च—तथा।

जिस प्रकार पृथ्वी तथा इसकी गन्ध या जल तथा इसके स्वाद का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं होता उसी तरह बुद्धि तथा चेतना का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं हो सकता।

तात्पर्य : यहाँ उदाहरण दिया गया है कि किसी भी भौतिक वस्तु में गंध होती है। फूल, पृथ्वी, सभी में गंध होती है। यदि पदार्थ में से गंध विलग कर दी जाय तो पदार्थ को पहचाना नहीं जा सकता। यदि जल में स्वाद न हो तो जल व्यर्थ है, यदि अग्नि में उष्मता न हो तो अग्नि व्यर्थ है। इसी प्रकार बुद्धि के अभाव में आत्मा का कोई अर्थ नहीं होता।

अकर्तु: कर्मबन्धोऽयं पुरुषस्य यदाश्रय: ।
गुणेषु सत्सु प्रकृते: कैवल्यं तेष्वत: कथम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अकर्तु:—न करने वाले का; कर्म-बन्ध:—कर्मों का बन्धन; अयम्—यह; पुरुषस्य—आत्मा का; यत्-आश्रय:—गुणों की संगति से उत्पन्न; गुणेषु—जबकि गुणों में; सत्सु—उपस्थित हैं; प्रकृते:—प्रकृति के; कैवल्यम्—स्वतन्त्रता; तेषु—उन; अत:—अत:; कथम्—कैसे।

अत: समस्त कर्मों का कर्ता न होते हुए भी जीव तब तक कैसे स्वतन्त्र हो सकता है जब तक प्रकृति उस पर अपना प्रभाव डालती रहती है और उसे बाँधे रहती है।

तात्पर्य : यद्यपि जीव पदार्थ के संसर्ग से स्वतन्त्र होना चाहता है, किन्तु उसे छुटकारा नहीं

मिलता। वास्तव में जैसे ही जीव अपने आपको प्रकृति के गुणों के अधीन कर देता है, वैसे ही उसके सारे कार्य प्रकृति द्वारा प्रभावित होने लगते हैं और वह निष्क्रिय हो जाता है। *भगवद्‌गीता* में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—*प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः*—जीव प्रकृति के गुणों के अनुसार कर्म करता है। वह झूठे ही सोचता है कि वह कर्म कर रहा है, जबकि दुर्भाग्यवश वह निष्क्रिय (अकर्ता) रहता है। दूसरे शब्दों में, उसे प्रकृति के नियन्त्रण से निकलने का अवसर नहीं मिलता, क्योंकि वह पहले ही बद्ध हो चुकता है। *भगवद्‌गीता* में यह भी कहा गया है कि प्रकृति के पाश से छूट पाना बहुत कठिन है। वह अन्य प्रकार से यह सोचने का प्रयत्न कर सकता है कि अन्ततः हर वस्तु शून्य है, ईश्वर कहीं नहीं है और यदि प्रत्येक वस्तु का आधार आत्मा है भी तो वह निराकार है। यह चिन्तन चलता रह सकता है, किन्तु वास्तव में प्रकृति के पाश से छूट पाना अत्यन्त कठिन होता है। देवहूति प्रश्न करती है कि यद्यपि मनुष्य तरह-तरह से सोचता है, किन्तु जब तक वह प्रकृति के वश में है तब तक उसकी मुक्ति कहाँ? इसका उत्तर *भगवद्‌गीता* (७.१४) में प्राप्त है—केवल वही, जिसने भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की शरण ले ली है (*मामेव ये प्रपद्यन्ते*) माया के चंगुल से छूट जाता है।

चूँकि धीरे-धीरे देवहूति आत्मसमर्पण करने के निकट पहुँच रही है, अतः उसके प्रश्न अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्ण हैं कि मनुष्य कैसे मुक्त हो सकता है? जब तक मनुष्य प्रकृति के गुणों द्वारा कसकर जकड़ा हुआ है तब तक वह किस तरह आध्यात्मिक जगत की विशुद्ध अवस्था में हो सकता है? यह झूठे ध्यानकर्ता के लिए संकेत भी है। ऐसे अनेक तथाकथित ध्यानकर्ता हैं, जो सोचते हैं कि, ''मैं परमात्मा हूँ, मैं प्रकृति के कार्यों का संचालन कर रहा हूँ, मेरे ही निर्देशन में सूर्य घूमता तथा चन्द्रमा उदय होता है।'' वे सोचते हैं कि ऐसे चिन्तन या ध्यान से वे मुक्त हो सकते हैं, किन्तु देखा जाता है कि ऐसे व्यर्थ ध्यान के तीन मिनट बाद ही वे प्रकृति के गुणों से बँध जाते हैं। अपने उच्च ध्यान के तुरन्त बाद ही 'ध्यानकर्ता' प्यासा हो उठता है और कुछ पीना या धूम्रपान करना चाहता है। यद्यपि वह प्रकृति की मजबूत मुट्ठी में रहता है, तो भी वह सोचता है कि मैं माया के पाश से मुक्त हूँ। देवहूति का यह प्रश्न ऐसे व्यक्ति के

लिए है, जो यह झूठा दावा करता है कि वह सब कुछ है, अन्त में हर वस्तु शून्य है और पाप या पुण्यकर्म नहीं होता। ये सभी निरीश्वरवादी खोजें हैं। वस्तुत: जब तक मनुष्य *भगवद्गीता* में बताई गई विधि के अनुसार भगवान् की शरण में नहीं जाता तब तक माया के पाश से छुटकारा नहीं मिलता।

क्वचित्तत्त्वावमर्शेन निवृत्तं भयमुल्बणम् ।
अनिवृत्तनिमित्तत्वात्पुन: प्रत्यवतिष्ठते ॥ २० ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—यदि कभी; **तत्त्व**—मूल सिद्धान्त; **अवमर्शेन**—विचार करने से; **निवृत्तम्**—बचा जा सके; **भयम्**—भय; **उल्बणम्**—महान्; **अनिवृत्त**—छुटकारा न पाने वाला; **निमित्तत्वात्**—चूँकि कारण से; **पुन:**—फिर; **प्रत्यवतिष्ठते**—प्रकट होता है।

यदि चिन्तन तथा मूल सिद्धान्तों की जाँच-परख से बन्धन के महान् भय से बच भी लिया जाय तो भी यह पुन: प्रकट हो सकता है, क्योंकि इसके कारण का अन्त नहीं हुआ होता है।

तात्पर्य : अपने आपको पदार्थ के अधीन करने से भवबन्धन उत्पन्न होता है, क्योंकि अहंकार प्रकृति पर अधिकार जताना चाहता है। *भगवद्गीता* (७.२७) का कथन है—*इच्छाद्वेषसमुत्थेन*। जीवात्मा में दो प्रकार की रुचियों का उदय होता है। एक है *इच्छा* जिसका अर्थ है प्रकृति पर अधिकार जताना अथवा परमेश्वर के समान महान् बनना। प्रत्येक व्यक्ति इस संसार में महानतम व्यक्ति बनना चाहता है। दूसरी है *द्वेष* अर्थात् ईर्ष्या। जब मनुष्य कृष्ण अथवा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से द्वेष करता है, तो वह सोचता है कि, ''कृष्ण ही सर्वेसर्वा क्यों हैं? मैं भी कृष्ण जैसा हूँ।'' ये दो बातें—भगवान् बनने की इच्छा और भगवान् से ईर्ष्या—भवबन्धन के प्रारम्भिक कारण हैं। जब तक चिन्तक, मुक्ति का इच्छुक या शून्यवादी महान् बनने, सब कुछ होने या ईश्वर के अस्तित्व को नकारने की कोई न कोई इच्छा रखता है तब तक उसकी मुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता।

देवहूति अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्वक कहती है, ''कोई भले ही सिद्धान्तत: विश्लेषण करते हुए यह कहे कि ज्ञान के द्वारा वह मुक्त हो गया है, किन्तु वास्तव में जब तक कारण विद्यमान है

तब तक वह मुक्त नहीं है।'' *भगवद्गीता* पुष्टि करती है कि अनेक जन्मों तक ऐसे चिन्तन के बाद जब मनुष्य अपनी वास्तविक चेतना को प्राप्त होता है और भगवान् श्रीकृष्ण की शरण में जाता है तभी उसकी ज्ञान की खोज पूरी होती है। भवबन्धन से सैद्धान्तिक मुक्ति तथा वास्तविक मुक्ति के बीच पर्याप्त अन्तर है। *भागवत* (१०.१४.४) का कथन है कि यदि कोई भक्ति के शुभ पथ को छोड़कर केवल चिन्तन द्वारा वस्तुओं को जानना चाहता है, तो वह वृथा ही अपना समय गँवाता है (*क्लिश्यन्ति ये केवलबोध लब्धये*)। इस प्रकार का श्रम केवल श्रम होता है, कोई अन्य परिणाम नहीं निकलता। चिन्तन का श्रम रिक्तता में समाप्त होता है। यहाँ यह उदाहरण दिया जा सकता है कि धान की भूसी को कूटने से क्या लाभ! उसका चावल तो पहले से ही निकला रहता है। इसी प्रकार मात्र चिन्तन से मनुष्य भवबन्धन से मुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि कारण तब भी विद्यमान रहता है। पहले कारण का निषेध करना होता है तब कर्म (प्रभाव) निरस्त होता है। अगले श्लोकों में भगवान् इसकी व्याख्या करते हैं।

श्रीभगवानुवाच
अनिमित्तनिमित्तेन स्वधर्मेणामलात्मना ।
तीव्रया मयि भक्त्या च श्रुतसम्भृतया चिरम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; अनिमित्त-निमित्तेन—कर्म-फल की इच्छा के बिना; स्व-धर्मेण—अपने-अपने निर्धारित कार्यों के करने से; अमल-आत्मना—शुद्ध मन से; तीव्रया—उत्कट, गभ्भीर; मयि—मुझको; भक्त्या—भक्ति से; च—तथा; श्रुत—श्रवण; सम्भृतया—से युक्त; चिरम्—दीर्घकाल तक।.

भगवान् ने कहा : यदि कोई गम्भीरतापूर्वक मेरी सेवा करता है और दीर्घकाल तक मेरे विषय में या मुझसे सुनता है, तो वह मुक्ति पा सकता है। इस प्रकार अपने-अपने नियत कार्यों के करने से कोई प्रतिक्रिया नहीं होगी और मनुष्य पदार्थ के कल्मष से मुक्त हो जाएगा।

तात्पर्य : इस प्रसंग में श्रीधर स्वामी की टीका है कि केवल प्रकृति के साहचर्य से ही कोई बद्ध नहीं हो जाता। बद्ध जीवन तो प्रकृति के गुणों से दूषित होने के बाद ही प्रारम्भ होता है। यदि कोई पुलिस विभाग के संसर्ग में रहता है, तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह

अपराधी है। जब तक कोई अपराध नहीं करता तब तक पुलिस विभाग के होते हुए भी उसे दण्डित नहीं किया जाता। इसी प्रकार मुक्त जीव भौतिक प्रकृति में रहते हुए भी उससे प्रभावित नहीं होता। यहाँ तक कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् भी, जब वे अवतरित होते हैं, तो प्रकृति के साहचर्य में रहते हैं, किन्तु वे उससे प्रभावित नहीं होते। मनुष्य को इस तरह कर्म करना होता है कि इस भौतिक प्रकृति में रहते हुए भी वह कल्मष से प्रभावित न हो। यद्यपि कमल के फूल का साहचर्य जल के साथ होता है, किन्तु जल उससे छू नहीं जाता। यही वह विधि है, जिस तरह मनुष्य को रहना है, जैसाकि भगवान् कपिलदेव ने यहाँ पर वर्णन किया है (*अनिमित्तनिमित्तेन स्वधर्मेणामलात्मना*)।

यदि मनुष्य गम्भीरतापूर्वक भक्ति में लगा रहे तो वह समस्त प्रतिकूल परिस्थितियों से मुक्त हो सकता है। जिस तरह यह भक्ति विकसित होकर परिपक्व बनती है उसकी यहाँ व्याख्या की गई है। प्रारम्भ में मनुष्य को शुद्ध मन से नियत कर्तव्य करने होते हैं। शुद्ध चेतना का अर्थ है कृष्णचेतना। मनुष्य को कृष्णचेतना में नियत कर्तव्य करने होते हैं। उसे अपने नियत कर्तव्यों को बदलने की कोई आवश्यकता नहीं रहती, उसे केवल कृष्णचेतना में कर्म करना होता है। कृष्णभावनाभावित कर्तव्य करते हुए उसे यह तय करना चाहिए कि उसके वृत्तिपरक कर्तव्यों से श्रीभगवान् कृष्ण सन्तुष्ट होते हैं। *भागवत* में एक अन्य स्थान में कहा गया है—*स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्*—हर व्यक्ति को कुछ न कुछ कर्तव्य करने होते हैं, किन्तु ऐसे कर्तव्यों की पूर्णता तभी होगी जब भगवान् श्रीहरि ऐसे कर्मों से तुष्ट हों। उदाहरणार्थ, अर्जुन का नियत कर्तव्य युद्ध करना था और उसके युद्ध की पूर्णता श्रीकृष्ण की तुष्टि से आँकी जानी थी। कृष्ण की इच्छा थी कि वह युद्ध करे और जब उसने भगवान् की तुष्टि के लिए युद्ध किया, तो यह उसके भक्तिमय कर्तव्य की पूर्णता थी। दूसरी ओर, जब भगवान् की इच्छा के विरुद्ध वह युद्ध करना नहीं चाह रहा था, तो वह अपूर्ण था।

यदि कोई अपने जीवन को पूर्ण बनाना चाहता है, तो उसे कृष्ण की तुष्टि के लिए अपने नियत कर्तव्य सम्पन्न करने चाहिए। उसे कृष्णचेतना में कार्य करना चाहिए, क्योंकि ऐसे कर्म से

कोई फल नहीं उत्पन्न होता *(अनिमित्त-निमित्तेन)* इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है—*यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र*—यज्ञ अथवा विष्णु की तुष्टि के लिए ही सारे कार्य सम्पन्न किये जाने चाहिए। अन्य कोई भी कार्य या यज्ञ जो विष्णु की तुष्टि के बिना सम्पन्न किया जाता है बन्धन उत्पन्न करता है, अत: यहाँ पर कपिल मुनि द्वारा इसकी भी संस्तुति की गई है कि कृष्णचेतना में कार्य करके अर्थात् भक्ति में गम्भीरतापूर्वक लग करके भवबन्धन को छिन्न किया जा सकता है। ऐसी भक्ति दीर्घकाल तक श्रवण करने से विकसित होती है। कीर्तन तथा श्रवण तो भक्तियोग का शुभारम्भ है। मनुष्य को चाहिए कि भक्तों की संगति करे और उनसे भगवान् के दिव्य प्राकट्य, कार्यकलापों, उनके अन्तर्धान, आदेश आदि के विषय में सुने।

श्रुति अथवा शास्त्र दो तरह के होते हैं। एक जो भगवान् द्वारा कहे गये हैं और दूसरे जो भगवान् तथा उनके भक्तों के विषय में कहे गये हैं। *भगवद्गीता* पहले प्रकार की है और *श्रीमद्भागवत* दूसरे प्रकार की। मनुष्य को चाहिए कि गम्भीर भक्ति-सेवा में स्थिर होने के लिए ऐसी श्रुतियों का बारम्बार श्रवण विश्वसनीय स्रोतों से करे। ऐसी भक्ति में लगने से वह माया के कल्मष से मुक्त हो जाता है। *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है कि श्रीभगवान् के विषय में श्रवण करने से हृदय प्रकृति के तीनों गुणों के प्रभाव से उत्पन्न समस्त कल्मष से स्वच्छ हो जाता है। निरन्तर तथा नियमित श्रवण करने से काम तथा लोभ या प्रकृति पर अधिकार जताने के कल्मष के प्रभाव कम हो जाते हैं और जब लोभ तथा काम घट जाते हैं, तो मनुष्य सतोगुण पद को प्राप्त होता है। यह ब्रह्म-साक्षात्कार या आत्म-साक्षात्कार की अवस्था है। इस प्रकार मनुष्य दिव्य पद पर स्थिर हो जाता है। दिव्य पद पर स्थिर बने रहना ही भवबन्धन से मुक्ति है।

ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन वैराग्येण बलीयसा ।
तपोयुक्तेन योगेन तीव्रेणात्मसमाधिना ॥ २२॥

शब्दार्थ

ज्ञानेन—ज्ञान से; दृष्ट-तत्त्वेन—परम सत्य की दृष्टि से; वैराग्येण—विरक्ति से; बलीयसा—अत्यन्त दृढ़तापूर्वक; तपः-युक्तेन—तप में लगाने से; योगेन—योग से; तीव्रेण—दृढ़तापूर्वक स्थिर; आत्म-समाधिना—आत्म-लीन होने से।

यह भक्ति दृढ़तापूर्वक पूर्ण ज्ञान से तथा दिव्य दृष्टि से सम्पन्न करनी चाहिए। मनुष्य

को प्रबल रूप से विरक्त होना चाहिए, तपस्या में लगना चाहिए और आत्मलीन होने के लिए योग करना चाहिए।

तात्पर्य : भौतिक भावना अथवा मनोकल्पना के कारण कृष्णचेतना में अंधाधुंध भक्ति नहीं की जा सकती। यहाँ विशेष रूप से उल्लेख है कि मनुष्य को पूर्ण ज्ञान में परम सत्य की कल्पना करते हुए भक्ति करनी चाहिए। हम दिव्य ज्ञान का विकास करके परम सत्य के विषय में समझ सकते हैं और ऐसे दिव्य ज्ञान का परिणाम वैराग्य द्वारा ही प्रकट होगा। यह वैराग्य न तो क्षणिक है, न कृत्रिम, अपितु अत्यन्त प्रबल है। कहा जाता है कि वैराग्य के द्वारा कृष्णचेतना का विकास दृष्टिगत होता है। यदि कोई अपने आपको भौतिक भोग से पृथक् नहीं कर सकता तो यह समझना चाहिए कि वह कृष्णचेतना (भक्ति) में अग्रसर नहीं हो रहा है। कृष्णचेतना में वैराग्य इतना प्रबल होता है कि इसे किसी आकर्षण के द्वारा विपथ नहीं किया जा सकता। मनुष्य को पूर्ण तपस्या में भक्ति करनी होती है। उसे चाहिए कि मास की दोनों एकादशियों में भगवान् कृष्ण, भगवान् राम तथा चैतन्य महाप्रभु के जन्मदिनों में उपवास करे। ऐसे उपवास के दिन अनेक हैं। *योगेन* का अर्थ है इन्द्रियों तथा मन को नियन्त्रित करके—*योग इन्द्रिय संयमः*। *योगेन* बताता है कि मनुष्य अपने में लीन रहता है और ज्ञान के विकास द्वारा परमात्मा के साथ अपनी स्वाभाविक स्थिति को समझ सकता है। इस प्रकार वह भक्ति में स्थिर हो जाता है और उसकी श्रद्धा किसी भौतिक प्रलोभन से विचलित नहीं होती।

प्रकृतिः पुरुषस्येह दह्यमाना त्वहर्निशम् ।
तिरोभवित्री शनकैरग्नेर्योनिरिवारणिः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

प्रकृतिः—प्रकृति का प्रभाव; पुरुषस्य—जीवात्मा का; इह—यहाँ; दह्यमाना—जलकर; तु—लेकिन; अहः-निशम्—दिन-रात; तिरः-भवित्री—विलीन होकर; शनकैः—धीर-धीरे; अग्नेः—अग्नि का; योनिः—उदय का कारण; इव—सदृश; अरणिः—काष्ठ, जिससे अग्नि उत्पन्न की जाती है।.

प्रकृति के प्रभाव ने जीवात्मा को ढक कर रखा है मानो जीवात्मा सदैव प्रज्वलित अग्नि में रह रहा हो। किन्तु भक्ति करने से यह प्रभाव उसी प्रकार दूर किया जाता सकता है, जिस प्रकार अग्नि उत्पन्न करने वाले काष्ठ-खण्ड स्वयं भी अग्नि द्वारा भस्म हो जाते

हैं।

तात्पर्य : अग्नि लकड़ी के टुकड़ो के भीतर संरक्षित रहती है और परिस्थितियाँ अनुकूल होने पर अग्नि जल उठती है, किन्तु जो काष्ठ-खण्ड अग्नि उत्पन्न करने वाले होते हैं, वे भी अग्नि के द्वारा स्वाहा हो जाते हैं। इसी प्रकार जीवात्मा का सांसारिक बद्ध जीवन प्रकृति पर अधिकार जताने की उसकी इच्छा तथा परमेश्वर से द्वेष करने के कारण है। इस प्रकार से मुख्य रोग यह है कि वह परमेश्वर से एकाकार होना चाहता है, या वह भौतिक प्रकृति का स्वामी बनना चाहता है। कर्मीजन प्रकृति के साधनों का उपयोग करने का प्रयत्न करते हैं और इस तरह इसके स्वामी बनकर इन्द्रियतृप्ति का भोग करना चाहते हैं। ज्ञानीजन भौतिक साधनों का भोग करते-करते निराश होकर भगवान् से एकाकार होना या निर्गुण तेज में लीन होना चाहते हैं। ये दोनों रोग भौतिक कल्मष के कारण होते हैं। भौतिक कल्मष को भक्ति द्वारा भस्मसात किया जा सकता है, क्योंकि भक्तिमय सेवा में ये दोनों रोग अर्थात् प्रकृति पर प्रभुत्व जमाने और परमेश्वर से तदाकार होने की इच्छा अनुपस्थित रहते हैं। अत: कृष्णभावनामृत में भक्तियोग को सावधानी से सम्पन्न करने पर सांसारिक अस्तित्व का कारण तुरन्त भस्म हो जाता है।

पूर्ण कृष्णचेतना में भक्त ऊपर से महान् कर्मी प्रतीत होता है, जो सदैव कार्य करता रहता है, किन्तु भक्त के इन कार्यकलापों का आन्तरिक महत्त्व यह है कि वे परमेश्वर की तुष्टि के लिए होते हैं। यह भक्ति कहलाती है। अर्जुन ऊपरी तौर पर योद्धा था, किन्तु जब उसने अपने युद्ध से भगवान् कृष्ण की इन्द्रियों को तुष्ट कर दिया तो वह भक्त बन गया। चूँकि भक्त भी परम पुरुष को उसी रूप में समझने के लिए दार्शनिक शोध में रत रहता है, अत: उसके कार्यकलाप चिन्तक-जैसे लग सकते हैं, किन्तु वास्तव में वह आध्यात्मिक प्रकृति तथा दिव्य कार्यकलापों को समझने का प्रयत्न करता रहता है। यद्यपि उसमें दार्शनिक चिन्तन की प्रवृत्ति पाई जाती है, किन्तु सकाम कर्म के फल तथा याद्दच्छिक चिन्तन नहीं पाये जाते, क्योंकि यह कार्य भगवान् के निमित्त है।

भुक्तभोगा परित्यक्ता दृष्टदोषा च नित्यशः ।
नेश्वरस्याशुभं धत्ते स्वे महिम्नि स्थितस्य च ॥ २४॥

शब्दार्थ

भुक्त—भोगा हुआ; भोगा—भोग; परित्यक्ता—छोड़ा हुआ; दृष्ट—खोजा हुआ; दोषा—त्रुटि; च—तथा; नित्यशः—सदैव; न—नहीं; ईश्वरस्य—स्वतन्त्र का; अशुभम्—हानि; धत्ते—नुकसान पहुँचाती है; स्वे महिम्नि—अपनी कीर्ति में; स्थितस्य—स्थित; च—तथा।

प्रकृति पर अधिकार जताने की इच्छा के दोषों को ज्ञात करके और फलस्वरूप उस इच्छा को त्याग करके जीवात्मा स्वतन्त्र हो जाता है और अपनी कीर्ति में स्थित हो जाता है।

तात्पर्य : चूँकि जीव भौतिक साधनों का वास्तविक भोक्ता नहीं है, फलतः प्रकृति पर अधिकार करने की उसकी चेष्टा असफल रहती है। फलस्वरूप वह सामान्य जीव की अपेक्षा अधिक शक्ति चाहता है और परम भोक्ता के अस्तित्व में लीन हो जाना चाहता है। इस प्रकार वह अधिक भोग की योजना बना लेता है।

जब कोई सचमुच भक्ति में स्थित होता है, तो वह उसकी स्वतन्त्र स्थिति होती है। अल्पज्ञानी व्यक्ति भगवान् के नित्य दास की स्थिति को नहीं समझ पाते। चूँकि 'दास' शब्द लगा रहता है इसलिए वे भ्रमित हो जाते हैं, वे यह नहीं समझ पाते कि यह दासता इस भौतिक जगत की दासता नहीं है। भगवान् का दास होना सबसे बड़ा पद है। यदि वह इसे समझ सके और भगवान् की शाश्वत दासता की अपनी मूल स्थिति को फिर से पा सके तो वह पूर्ण स्वतन्त्र हो सकता है। भौतिक सम्पर्क के कारण जीव की स्वतन्त्रता जाती रहती है। आध्यात्मिक जगत में उसे पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है, फलतः प्रकृति के गुणों पर आश्रित रहने का प्रश्न ही नहीं उठता। यह स्थिति भक्त द्वारा प्राप्त की जाती है, अतः जब वह इसके दोषों को देखता है, तो भौतिक भोग की प्रकृति को छोड़ देता है।

एक भक्त तथा एक निर्विशेषवादी में यही अन्तर होता है कि निर्विशेषवादी परमेश्वर के साथ तादात्म्य चाहता है, जिससे वह निर्बाध रूप से भोग कर सके, किन्तु भक्त है कि वह भोग की समग्र मानसिकता को त्याग देता है और अपने आपको भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति में प्रवृत्त करता है। यही उसकी स्वाभाविक महिमामय स्थिति है। इस समय वह ईश्वर—पूर्ण

स्वतन्त्र—होता है। परम ईश्वर या *ईश्वर: परम:* तो कृष्ण हैं। जीव तो तभी ईश्वर रहता है जब वह भगवान् की सेवा में निरत होता है। दूसरे शब्दों में, भगवान् की प्रेमा-भक्ति से प्राप्त दिव्य आनन्द ही वास्तविक स्वतन्त्रता है।

यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत् ।
स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; हि—निस्सन्देह; अप्रतिबुद्धस्य—सोने वाले का; प्रस्वाप:—स्वप्न; बहु-अनर्थ-भृत्—अनेक अशुभ बातें उत्पन्न करने वाला; स: एव—वही स्वप्न; प्रतिबुद्धस्य—जगने वाले का; न—नहीं; वै—निश्चय ही; मोहाय—मोहग्रस्त करने के लिए; कल्पते—समर्थ है।

स्वप्नावस्था में मनुष्य की चेतना प्राय: ढकी रहती है और उसे अनेक अशुभ वस्तुएँ दिखती हैं, किन्तु उसके जगने पर तथा पूर्ण चेतन होने पर ऐसी अशुभ वस्तुएँ उसे विभ्रमित नहीं कर सकतीं।

तात्पर्य : स्वप्नावस्था में, जब मनुष्य की चेतना प्राय: ढकी रहती है, तो वह अनेक प्रतिकूल वस्तुएँ देख सकता है, जिससे चिन्ता होने लगती है, किन्तु जगने पर उसे स्वप्न में जो कुछ घटता हुआ रहता है स्मरण रहता है फिर भी वह विचलित नहीं होता। इसी प्रकार आत्म-साक्षात्कार की स्थिति अथवा परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को समझने की स्थिति होने पर मनुष्य पूर्णतया संतुष्ट रहता है और प्रकृति के तीनों गुण, जो सारी उद्विग्नताओं की जड़ हैं, उसे प्रभावित नहीं कर पाते। चेतना के कल्मषग्रस्त होने पर मनुष्य हर वस्तु को भोग्य समझता है, किन्तु शुद्ध चेतना या कृष्णभक्ति में वह यह देखता है कि जो भी वस्तु विद्यमान है, वह परमभोक्ता के भोग के लिए है। स्वप्नावस्था तथा जागृतावस्था में यही अन्तर है। कल्मषग्रस्त चेतना की तुलना स्वप्न चेतना से और कृष्ण चेतना की तुलना जीवन की जागृत चेतन-अवस्था से की गई है। वस्तुत:, जैसाकि *भगवद्गीता* में बताया गया है कृष्ण ही एकमात्र परम भोक्ता हैं। जो यह समझ सके कि कृष्ण ही तीनों लोकों के स्वामी और सबके सखा हैं तब वह शान्त तथा स्वतन्त्र है। जब तक बद्धजीव को यह ज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता वह हर वस्तु का भोक्ता बनना चाहता है, वह परोपकारी बनना चाहता है और अपने समधर्मी मानवों के लिए अस्पताल

तथा स्कूल खोलना चाहता है। यह सब मोह (माया) है, क्योंकि ऐसे भौतिक कार्यकलापों से वह किसी को लाभ नहीं पहुँचा सकता। यदि वह अपने समधर्मीयों को लाभ पहुँचाना चाहता है उसे तो अपनी सुसुप्त कृष्णचेतना को जगाना चाहिए। कृष्णचेतना युक्त स्थिति *प्रतिबुद्ध* की स्थिति है, जिसका अर्थ है शुद्ध चेतना।

एवं विदिततत्त्वस्य प्रकृतिर्मयि मानसम् ।
युञ्जतो नापकुरुत आत्मारामस्य कर्हिचित् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; विदित-तत्त्वस्य—परम सत्य के जानने वाले की; प्रकृतिः—प्रकृति; मयि—मुझ पर; मानसम्—मन को; युञ्जतः—स्थिर करते हुए; न—नहीं; अपकुरुते—हानि पहुँचा सकता है; आत्म-आरामस्य—आत्म में आनन्द उठाने वाले को; कर्हिचित्—कभी भी।

प्रकृति का प्रभाव किसी प्रबुद्ध मनुष्य को हानि नहीं पहुँचा सकता, भले ही वह भौतिक कार्यकलापों में ही व्यस्त क्यों न रहता हो, क्योंकि वह परम सत्य की सच्चाई को जानता है और उसका मन भगवान् में ही स्थिर रहता है।

तात्पर्य : भगवान् कपिल कहते हैं कि जिस भक्त का मन सदैव भगवान् के चरणकमलों में स्थिर रहता है (*मयि मानसम्*) वह *आत्मराम* या *विदित-तत्त्व* कहलाता है। *आत्माराम* का अर्थ है, जो "अपने आप में आनन्द उठाता है" या "जो आध्यात्मिक परिवेश में भोग करता है।" भौतिक दृष्टि से, *आत्मा* का अर्थ है शरीर या मन, किन्तु यहाँ यह ऐसे व्यक्ति के लिए निर्दिष्ट है, जिसका मन भगवान् के चरणकमलों में स्थिर रहता है, वह *आत्माराम* होता है, जिसका अर्थ है "जो परमात्मा के प्रसंग में आध्यात्मिक कार्य-कलापों में व्यस्त रहता है।" परमात्मा ही भगवान् है और व्यष्टि आत्मा जीव है। जब वे परस्पर सेवा तथा आशीष का आदान-प्रदान करते हैं, तो जीव को *आत्माराम* स्थिति में कहा जाता है। कोई भी व्यक्ति, जो सत्य को यथा रूप में जानता है, *आत्माराम* स्थिति को प्राप्त कर सकता है। सच्चाई तो यह है कि भगवान् भोक्ता है और सारे जीव उसकी सेवा तथा भोग के निमित्त हैं। जो इस सत्य को जानता है और अपने सारे साधनों को भगवान् की सेवा में लगाने का प्रयत्न करता है, वह सारे भौतिक कर्मफलों तथा प्रकृति के गुणों के प्रभावों से बच जाता है।

इस प्रसंग में एक उदाहरण दिया जा सकता है। जिस प्रकार कि एक भौतिकवादी व्यक्ति एक विशाल गगनचुम्बी प्रासाद बनवाता है भक्त उसी तरह विष्णु का एक विशाल मन्दिर बनवाने में लगा रहता है। ऊपर से गगनचुम्बी प्रासाद तथा मन्दिर बनवाने वाले समान धरातल पर हैं, क्योंकि दोनों ही लकड़ी, पत्थर, लोहा तथा अन्य इमारती सामान एकत्र करते रहते हैं। किन्तु जो व्यक्ति गगनचुम्बी प्रासाद बनवाता है, वह *आत्माराम* है। भौतिकतावादी गगनचुम्बी प्रासाद बनाकर अपने शरीर को तुष्ट करना चाहता है, किन्तु भक्त मन्दिर बनवाकर परमात्मा अर्थात् भगवान् को प्रसन्न करना चाहता है। यद्यपि दोनों ही भौतिक कार्यकलापों के संसर्ग में हैं, तो भी भक्त मुक्त होता है और भौतिकतावादी बद्ध होता है। इसका कारण यह है कि मन्दिर बनवाने वाला भक्त अपने मन को भगवान् में स्थिर किये हुए है, किन्तु गगनचुम्बी प्रासाद बनवाने वाला अभक्त इन्द्रियतृप्ति में अपना मन रमाये रहता है। कोई कार्य करते हुए, इस जगत में भी, यदि किसी का मन भगवान् के चरणकमलों में स्थिर रहता है, तो वह बद्ध नहीं होगा। भक्ति में काम करने वाला प्रकृति से सदैव स्वतन्त्र रहता है।

यदैवमध्यात्मरत: कालेन बहुजन्मना ।
सर्वत्र जातवैराग्य आब्रह्मभुवनान्मुनि: ॥ २७॥

शब्दार्थ

यदा—जब; एवम्—इस प्रकार; अध्यात्म-रत:—आत्म-साक्षात्कार में लगा हुआ; कालेन—अनेक वर्षों तक; बहु-जन्मना—अनके जन्मों तक; सर्वत्र—सभी जगह; जात-वैराग्य:—विरक्ति उत्पन्न होती है; आ-ब्रह्म-भुवनात्—ब्रह्मलोक तक; मुनि:—विचारवान व्यक्ति।.

मनुष्य जब इस तरह अनेकानेक वर्षों तथा अनेक जन्मों तक भक्ति एवं आत्म-साक्षात्कार में लगा रहता है, तो उसे किसी भी लोक में, यहाँ तक कि सर्वोच्च लोक ब्रह्मलोक में भी भोग से पूर्ण विरक्ति हो जाती है और उसमें चेतना पूर्णतया विकसित हो जाती है।

तात्पर्य : भगवान् की भक्ति में लगा रहने वाला कोई भी व्यक्ति भक्त कहलाता है, किन्तु शुद्ध भक्तों एवं मिश्रित भक्तों में अन्तर है। मिश्रित भक्त आध्यात्मिक लाभ के लिए भक्ति करता है, जिससे वह सच्चिदानन्द रूप भगवान् के दिव्य धाम में शाश्वत रूप से बना रहे। जब भक्त

पूर्णतया शुद्ध नहीं होता तो वह संसार में भगवान् से भौतिक लाभ की कामना करता है, जो भौतिक दुखों से छुटकारे के रूप में होता है या फिर भगवान् और जीवात्मा के सम्बन्ध में ज्ञान की उन्नति चाहता है या परमेश्वर के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। जब मनुष्य इन स्थितियों से ऊपर उठ जाता है, तो वह शुद्ध भक्त कहलाता है। वह भगवान् की सेवा किसी भौतिक लाभ के लिए या कि परमेश्वर को समझने के लिए नहीं करता। उसकी एकमात्र रुचि इसी में रहती है कि वह भगवान् से प्रेम करे और स्वत: ही वह उन्हें प्रसन्न करने में लग जाता है।

शुद्ध भक्ति का सर्वोत्तम उदाहरण वृन्दावन की गोपियाँ हैं। वे कृष्ण को जानने में उतनी रुचि नहीं रखतीं जितनी कि उनसे प्रेम करने में। प्रेम का यह पद ही भक्ति की शुद्ध अवस्था है। जब तक मनुष्य भक्ति की इस शुद्ध अवस्था तक ऊपर नहीं उठ जाता उसमें उच्चतर भौतिक स्थिति प्राप्त करने की प्रवृत्ति बनी रहती है। मिश्रित भक्त की इच्छा रहती है कि वह ब्रह्मलोक जैसे किसी उच्चतर लोक में दीर्घकाल तक सुखी जीवन का आनन्द प्राप्त करे। ये भौतिक इच्छाएँ हैं, किन्तु चूँकि मिश्रित भक्त भगवान् की सेवा में लगा रहता है, अत: अनेक जीवन तक भौतिक सुख भोगने के बाद अन्त में उसमें कृष्णभक्ति उत्पन्न होती है। इस कृष्णभावनामृत का लक्षण यह है कि वह किसी प्रकार के भौतिक उच्च जीवन में रुचि नहीं लेता। यहाँ तक कि वह ब्रह्माजी जैसा पुरुष भी नहीं बनना चाहता।

मद्भक्त: प्रतिबुद्धार्थो मत्प्रसादेन भूयसा ।
नि:श्रेयसं स्वसंस्थानं कैवल्याख्यं मदाश्रयम् ॥ २८ ॥
प्राप्नोतीहाञ्जसा धीर: स्वदृशा च्छिन्नसंशय: ।
यद्गत्वा न निवर्तेत योगी लिङ्गाद्विनिर्गमे ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

मत्-भक्त:—मेरा भक्त; प्रतिबुद्ध-अर्थ:—स्वरूपसिद्ध; मत्-प्रसादेन—मेरी अहैतुकी कृपा से; भूयसा—अनन्त; नि:श्रेयसम्—चरम परिणति; स्व-संस्थानम्—अपने धाम को; कैवल्य-आख्यम्—कैवल्य नामक; मत्-आश्रयम्—मेरी शरण को; प्राप्नोति—प्राप्त करता है; इह—इस जीवन में; अञ्जसा—सचमुच; धीर:—धीर; स्व-दृशा—आत्मज्ञान में; छिन्न-संशय:—संशयों से मुक्त; यत्—उस धाम तक; गत्वा—जाकर; न—कभी नहीं; निवर्तेत—लौटता है; योगी—योगी भक्त; लिङ्गात्—सूक्ष्म तथा स्थूल भौतिक शरीरों से; विनिर्गमे—प्रस्थान के बाद।

मेरा भक्त मेरी असीम अहैतुकी कृपा से वस्तुत: स्वरूपसिद्ध हो जाता है और इस

तरह समस्त संशयों से मुक्त होकर वह अपने गन्तव्य धाम की ओर अग्रसर होता है, जो मेरी शुद्ध आनन्द की आध्यात्मिक शक्ति के अधीन है। जीव का यही चरम सिद्धि-गन्तव्य (स्व-संस्थान) है। इस शरीर को त्यागने के बाद योगी भक्त उस दिव्य धाम को जाता है जहाँ से वह फिर कभी नहीं लौटता।

तात्पर्य : वास्तविक आत्म-साक्षात्कार का अर्थ है भगवान् का शुद्ध भक्त बन जाना। भक्त के अस्तित्व का अर्थ होता है भक्ति का कार्य तथा भक्ति का विषय। अन्तत: श्रीभगवान् तथा जीवों को समझना ही आत्म-साक्षात्कार है। अपने को जानना तथा भगवान् और जीव के बीच प्रेमा-भक्ति का आदान-प्रदान ही वास्तविक आत्म-साक्षात्कार है। इसे निर्विशेषवादी या अन्य अध्यात्मवादी प्राप्त नहीं कर सकते; वे भक्तियोग के विज्ञान को नहीं समझ सकते। भगवान् की असीम अहैतुकी कृपा से ही शुद्ध भक्त को भक्ति प्रकट होती है। भगवान् ने इसे यहाँ पर विशेष रूप से *मत्-प्रसादेन* "मेरी विशेष कृपा से" कहा है। *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि हुई है। जो प्रेम तथा श्रद्धा के साथ भक्ति में लगे रहते हैं, वे ही भगवान् से आवश्यक बुद्धि प्राप्त करते हैं जिससे वे क्रमश: प्रगति करते हुए भगवान् के धाम की ओर बढ़ सकते हैं।

नि:श्रेयस का अर्थ है "चरम गन्तव्य"। *स्व-संस्थान* सूचित करता है कि निर्विशेषवादियों के ठहरने का कोई विशेष स्थान नहीं होता। वे अपने व्यक्तित्व का समर्पण इसीलिए करते हैं जिससे जीवित स्फुलिंग भगवान् के दिव्य शरीर से उद्भूत निर्गुण तेज में लीन हो जाय, किन्तु भक्त का एक निश्चित धाम होता है। सारे लोक सूर्यप्रकाश में थमे हुए हैं, किन्तु सूर्यप्रकाश का कोई विशेष स्थल नहीं है। जब कोई किसी लोक में पहुँच जाता है, तो उसका एक विश्राम-स्थल होता है। आध्यात्मिक आकाश, जिसे *कैवल्य* कहते हैं, चारों ओर से केवल आनन्दमय प्रकाश है और वह भगवान् के संरक्षण में रहता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.२७) में कहा गया है—*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*—निराकार ब्रह्मतेज भगवान् के शरीर में स्थित रहता है। दूसरे शब्दों में, भगवान् का शारीरिक तेज ही *कैवल्य* या निराकार ब्रह्म है। इस निराकार तेज में अनेक दिव्य लोक हैं, जिन्हें वैकुण्ठ कहते हैं जिनमें कृष्णलोक प्रमुख है। कुछ भक्त

वैकुण्ठलोक जाते हैं और कुछ कृष्णलोक को। भक्त विशेष की इच्छानुसार उसे विशेष धाम प्रदान किया जाता है, जो *स्व-संस्थान* अर्थात् उसका अभीष्ट गन्तव्य कहलाता है। भगवान् की कृपा से भक्ति में तत्पर स्वरूपसिद्ध भक्त भौतिक शरीर में रहते हुए ही अपने गन्तव्य (धाम) को जानता है। अत: वह बिना संशय के स्थिर भाव से भक्तिकर्म करता है और शरीर त्यागने के बाद तुरन्त ही उस धाम में पहुँच जाता है, जिसकी वह तैयारी करता रहता है। उस धाम में पहुँचकर वह फिर कभी इस संसार में नहीं लौटता।

यहाँ पर आये *लिङ्गात्-विनिर्गमे* शब्दों का अर्थ है ''सूक्ष्म तथा स्थूल इन दो प्रकार के भौतिक शरीर से मुक्त होने के बाद।'' सूक्ष्म शरीर मन, बुद्धि, अहंकार तथा कल्मषमय चेतना से निर्मित रहता है और स्थूल शरीर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा शून्य इन पाँच तत्त्वों से निर्मित रहता है। जब कोई दिव्य लोक को भेजा जाता है, तो वह इस संसार में दोनों प्रकार के—स्थूल तथा सूक्ष्म—शरीरों को त्याग देता है। वह अपने शुद्ध आध्यात्मिक शरीर के साथ दिव्य लोक में प्रवेश करता है और किसी एक दिव्य लोक में स्थिर हो जाता है। यद्यपि निर्विशेषवादी भी अपने सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर त्याग कर दिव्यव्योम को जाते हैं, किन्तु उन्हें दिव्य लोक में नहीं रखा जाता, उन्हें अपनी इच्छानुसार भगवान् के दिव्य शरीर से उद्भूत आध्यात्मिक तेज में लीन होने दिया जाता है। *स्व-स्थानम्* शब्द भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। चूँकि जीव तैयारी करता रहता है, अत: उसे उसका धाम मिलता है। निर्विशेषवादियों को निराकार ब्रह्मतेज प्रदान किया जाता है, किन्तु जो वैकुण्ठ में नारायण रूप में भगवान् के दिव्य रूप की संगति चाहते हैं या कृष्णलोक में कृष्ण की संगति चाहते हैं, वे उन धामों को जाते हैं जहाँ से वे कभी नहीं लौटते।

यदा न योगोपचितासु चेतो
मायासु सिद्धस्य विषज्जतेऽङ्ग ।
अनन्यहेतुष्वथ मे गतिः स्याद्
आत्यन्तिकी यत्र न मृत्युहासः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; न—नहीं; योग-उपचितासु—योग द्वारा प्राप्त शक्तियों तक; चेतः—ध्यान; मायासु—माया के प्राकट्य; सिद्धस्य—सिद्ध योगी का; विषज्जते—आकर्षित होता है; अङ्ग—हे माता; अनन्य-हेतुषु—जिसका कोई अन्य कारण न हो; अथ—तब; मे—मुझको; गतिः—उसकी प्रगति; स्यात्—होती है; आत्यन्तिकी—असीम; यत्र—जहाँ; न—नहीं; मृत्यु-हासः—मृत्यु की शक्ति।

जब सिद्ध योगी का ध्यान योगशक्ति की गौण वस्तुओं की ओर, जो बहिरंगा शक्ति के प्राकट्य हैं, आकृष्ट नहीं होता तब मेरी ओर उसकी प्रगति असीमित होती है और इस तरह उसे मृत्यु कभी भी परास्त नहीं कर सकती।

तात्पर्य : सामान्यत: योगीजन योगशक्ति की गौण वस्तुओं के प्रति आकृष्ट होते रहते हैं, क्योंकि वे लघुतर से लघुतम और दीर्घ से दीर्घतम हो सकते हैं, जो भी चाहें प्राप्त कर सकते हैं, लोक की सृष्टि करने की शक्ति से सम्पन्न होते हैं या किसी को अपने अधीन कर सकते हैं। जिन योगियों को भक्ति के फल की अपूर्ण जानकारी होती है वे ही इन शक्तियों के प्रति आकृष्ट होते हैं, किन्तु ये सारी शक्तियाँ भौतिक होती हैं, आध्यात्मिक उन्नति से इनका कोई सरोकार नहीं रहता है। जिस प्रकार भौतिक शक्ति से अन्य भौतिक शक्तियाँ उत्पन्न हैं उसी प्रकार योगशक्ति भी भौतिक होती है। सिद्धयोगी का मन किसी भी भौतिक शक्ति से आकृष्ट नहीं होता है, वह तो एकमात्र परमेश्वर की अमिश्रित भक्ति से आकृष्ट होता है। भक्त के लिए ब्रह्मतेज में लीन होना नारकीय है और उसे योगशक्ति स्वत: प्राप्त हो जाती है। स्वर्गलोक जाने को भक्त केवल मायाजाल मानता है। भक्त का ध्यान केवल भगवान् की प्रेमा-भक्ति में केन्द्रित होता है, अत: मृत्यु की शक्ति उस पर कोई प्रभाव नहीं डालती। ऐसी भक्तिमयी स्थिति में सिद्ध योगी को अमर ज्ञान तथा आनन्द का पद प्राप्त हो सकता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत ''प्रकृति का ज्ञान'' नामक सत्ताइसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।